॥ श्रीहरिः ॥ 387

प्रेम-सत्संग-सुधा-माला

गीताप्रेस, गोरखपुर

मिटा। सम्पर्कमें आनेका अर्थ है यह कि आपका मन, आपकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं बुद्धि तथा शरीर—सब-के-सब उस संतसे जुड़ जायँ, बिना भावके ही जुड़ जायँ। फिर देखो, एक क्षणमें ही आपकी सारी अशान्ति मिट जायगी। आप एक ऊँचे साधकसे भी जुड़ सकते हैं, पर यदि वह भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं है तो उससे जुड़नेपर यद्यपि इस रूपमें भी भगवान् हैं, आपका कल्याण बिना श्रद्धाके नहीं होगा। किन्तु सच्चे संत महापुरुषको बिना जाने, बिना पहचाने, बिना उनपर श्रद्धा किये, पूरा-पूरा उनसे जुड़ जायँ तो फिर निश्चय ही उसी क्षण कल्याण हो जायगा।

संक्षेपमें बात यह है कि श्रद्धा होना और जुड़ना—सम्पर्कमें आना दो वस्तुएँ हैं। किसीमें श्रद्धा होना एवं उससे जुड़ना—ये दो क्रियाएँ हैं। इसे ऐसे समझें—कल्पना करें, यहाँ दो व्यक्ति बैठे हैं। एक सदाचारी साधक है, दूसरा भगवत्प्राप्त महापुरुष है। अब जहाँ वह साधक आपको दीखता है—वहाँ भी असलमें भगवान् हैं, पूर्णरूपसे हैं, पर यहाँ श्रद्धा करनी पड़ेगी कि ये भगवान् हैं तथा उनसे जुड़ना पड़ेगा, अर्थात् मन, वाणी, समस्त इन्द्रियाँ आदिको इनसे जोड़ना पड़ेगा, तब आपका कल्याण होगा। पर महापुरुषके लिये यह बात नहीं है। वहाँ श्रद्धा चाहे बिलकुल ही न हो कि ये भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, केवल इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जुड़ जायँ, बस, आपका काम बन जायगा। कोई कहे कि 'हम तो महापुरुषसे जुड़े हुए हैं' तो मैं आपको कसौटी बताता हूँ कि वे जुड़े हैं या नहीं—इसकी जाँच कर लीजिये। मनका जुड़ना—मनका रूप है दिनभर चिन्तन करना, कुछ-न-कुछ संकल्प-विकल्प करते ही रहना। इसका यही स्वरूप दर्शनशास्त्रमें बताया गया है। अब आप सोचें कि आपका मन दिनभरमें कितना

संकल्प-विकल्प महापुरुषके सम्बन्धमें करता है और कितना संकल्प-विकल्प उनके अतिरिक्त पदार्थोंसे। आँखका जुड़ना क्या है? आँख देखती है। दिनभरमें आप कितनी देर उन्हें देखते हैं, उनकी लिखी हुई पुस्तकोंको देखते हैं? इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों एवं बुद्धिकी चेष्टाको औसतपर जाँच लें कि वे किस पदार्थसे जुड़ी हैं।

जिस दिन किसीका मन वैर-भावसे भी महापुरुषसे सोलहों आने जुड़ जायगा, उस दिन उसका कल्याण हो जायगा; क्योंकि श्रद्धाकी बिलकुल आवश्यकता ही नहीं है, आवश्यकता है जुड़नेकी। श्रद्धाकी वहाँ आवश्यकता होती है, जहाँ भगवान् छिपे रहते हैं। जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी आवश्यकता बिलकुल ही नहीं है। प्रेमसे या वैरसे किसी प्रकार जुड़ना चाहिये। जुड़ते ही काम बन जाता है। यह ठीक है कि महापुरुषसे वैर-भावसे जुड़ना आदर्श नहीं हो सकता तथा वैर-भावसे जुड़नेवालेको मोक्षरूप ही कल्याण मिलता है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति महापुरुष-द्वेषीको प्रायः नहीं ही होती। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि संत बिना श्रद्धाके ही काम कर देते हैं, पर जुड़नेकी आवश्यकता तो होगी ही। यह भी एक परम आश्वासनकी बात है कि जिसका एक क्षणके लिये भी किसी इन्द्रियसे वास्तविक महापुरुषके साथ जुड़ना हो गया; उसका कल्याण हो ही जायगा; क्योंकि धीरे-धीरे उसकी समस्त इन्द्रियाँ जुड़ ही जायँगी और जिस दिन समस्त जुड़ गया कि बस, काम बन गया। यही महापुरुषकी विशेषता है। स्त्री-बच्चोंसे तो आप अनन्त जन्मोंमें—अनन्त योनियोंमें जुड़ चुके हैं। उन स्त्री-बच्चोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही थे, पर अभीतक आपका उद्धार नहीं हुआ। उनसे जुड़े भी भीतरी मनसे ही थे, प्रत्येक योनिमें आप जुड़े रहे हैं; पर काम नहीं बना। इसीलिये

भगवान्‌की यही अनन्त कृपा जीवपर होती है कि वे अवतारूप तथा संतरूपमें प्रकट हो जाते हैं और उनके प्रकट स्वरूपसे बिना भावके ही जो कोई एक क्षणके लिये भी जुड़ जाता है, उसका कल्याण हो ही जाता है। जुड़ना पूरा-पूरा हुए बिना कल्याणमें देर होती है। चाहे एक जन्ममें हो या एक और जन्म धारण करके, पर यह सर्वथा सत्य है कि महापुरुषसे एक क्षणके लिये जुड़ा हुआ भी आगे चलकर पूरा-पूरा जुड़ ही जाता है तथा उसका पूर्ण कल्याण हो ही जाता है।

४३—यह मार्ग ही ऐसा है कि इसपर सर्वथा अहंकारशून्य होकर सारी ममता-माया छोड़कर, बस, श्रीकृष्णको ही एकमात्र जीवनका सार-सर्वस्व बनाकर चलना पड़ता है। जबतक बिलकुल अपनपा मिटा नहीं दिया जाता, तबतक प्रेम प्रकट ही नहीं होता। आप एक भी सच्चे व्रजप्रेमीके जीवनमें भी यह बात नहीं देखेंगे **कि उनके मनमें संसार भी हो और श्रीकृष्णप्रेम भी हो। अन्धकार और प्रकाश दोनों साथ रह ही नहीं सकते या तो संसार रहेगा या श्रीकृष्ण रहेंगे।**

श्रीकृष्णकी कृपासे आपके मनमें एक धुँधली चाह उत्पन्न हुई है, पर यह चाह इतनी मन्द है कि इसको बहुत तेजीसे बढ़ानेकी तथा यह सूख न जाय—इसके लिये चेष्टा करनेकी पूरी आवश्यकता है। बात यह है कि जबतक मन श्रीकृष्ण-प्रेम-रससे सिक्त नहीं होगा, तबतक कोई भी वस्तु सदा रहनेवाली शान्ति दे ही नहीं सकती। इसे आप अपने जीवनमें अनुभव करेंगे, पर धीरे-धीरे।

एक खास बात और है—वह यह है कि आप खूब तेजीसे वैराग्य बढ़ाइये। आपके लिये ही नहीं, किसी भी प्रेम चाहनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक है **कि विषयोंसे तीव्र वैराग्य तथा मनके द्वारा निरन्तर भगवत्-चिन्तन हो।** यह नहीं होगा तथा कोई आपको कहे

कि शान्ति मिल जायगी तो समझ लें कि या तो वह कहनेवाला स्वयं भ्रममें है या जान-बूझकर आपको धोखा दे रहा है। संसारमें जबतक भगवद्बुद्धि बिलकुल स्थिर नहीं हो जायगी, तबतक यदि संसारका तनिक भी चिन्तन होगा तो वह अशान्ति करेगा ही। आगको पकड़कर मनुष्य जले नहीं, यह असम्भव है ? इसी तरह संसारको संसारके रूपमें देखते रहनेपर इसके चिन्तनसे जलन बढ़ेगी ही, चाहे आप कहीं भी—किसी भी देशमें चले जायँ। आपको पता नहीं है—शायद वृन्दावनमें रहनेवाले भी कई व्यक्ति बहुत अशान्त रहते हैं। जिन्हें वे आँखे प्राप्त नहीं हैं, वे वृन्दावनमें भी जाकर राग-द्वेषसे बचे नहीं रह सकते। वहाँ भी उन्हें क्षणिक शान्ति ही मिलेगी। वृन्दावनकी चिदानन्दमयताका अनुभव उन्हें नहीं ही होगा। धामके वस्तुगुणसे अन्तमें उनका कल्याण हो जाय, यह बात दूसरी है।

रास देखकर भगवद्भाव हो तो वह वस्तुतः भगवत्-प्राप्तिकी परमोच्च साधना होती है, पर आप नाराज न हों, आपका मन भगवान्‌की ओर नहीं लगता। वह लगता है वहाँकी सजावटपर। जिस मनमें कूड़ा (विषय) है, वह गंदा मन रासके भगवत्-स्वरूपोंमें ज्यादा दिन टिकेगा ही नहीं। रही वृन्दावनकी बात, सो वृन्दावन असलमें जड वस्तु नहीं है कि वह एक देशमें सीमित है, वह भगवान्‌का स्वरूप-तत्त्व है, सर्वव्यापक है। श्रीराधारानी-श्रीकृष्णकी कृपासे जिनकी वह दृष्टि हो जाती है, उन्हें अणु-अणुमें श्रीधामके दर्शन हो सकते हैं, होते हैं। भूलोकमें आप जिस वृन्दावनका दर्शन करते हैं, वह सर्वथा निस्संदेह सच्चिदानन्द विभुतत्त्व है; पर वहाँ भी जिन्हें उस स्वरूपका अनुभव या उसपर श्रद्धा नहीं है, उन्हें वहाँ रहकर भी शान्ति नहीं।

सच मानिये—कहीं भी जायँ, शान्ति तभी मिलेगी जब कि मनसे

संसार निकलेगा। यह नियम ऐसा है कि कभी टलेगा नहीं। आपके प्रति जो मैं प्रार्थना करता हूँ, उसमें यह न समझें कि मैं कोई अपनी बात आपपर लादना चाहता हूँ। केवल इतनी बात आपसे निवेदन कर देता हूँ कि मेरी समझमें आपको संसार मनसे निकलना ही पड़ेगा। यह न करके चाहेंगे कि अशान्ति मिट जाय तो नहीं मिटेगी। अशान्ति तो संसारकी सत्ता मिटनेसे ही मिटेगी। आपके लिये यह एक बात जँच रही है कि आप पूरे निश्चयके साथ चौबीसों घंटे लीलाका श्रवण, चिन्तन, मनन—जब जैसा सम्भव हो, करते रहें। युक्ति मैं आपको बतला रहा हूँ, कुछ दिन करेंगे तो मेरा विश्वास है कि उन्नति होनी ही चाहिये। करनेपर चौबीस घंटे यह अनुभव-सा होने लगेगा—मेरे ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण वृन्दावन है। मैं वृन्दावन हूँ; मेरा शरीर वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय आकाशमें चल रहा है। श्वास लीजियेगा, उस समय अनुभव होगा कि श्वासके साथ पावन वृन्दावनकी वायु मेरे हृदयमें प्रवेश कर रही है। फिर इतनी निश्चिन्तता आयेगी कि शरीर रहे या जाय, मैं तो वृन्दावनमें ही हूँ। साथ ही लीलाका चिन्तन जितनी देर कीजियेगा वह और भी आनन्द बढ़ायेगी, पर यह सब करनेसे होगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आपके अन्तःकरणमें ही बैठे हैं। जब उनसे आपको शान्ति नहीं मिली, तब मुझ-जैसे मलिन मनवाले प्राणीकी बातसे कैसे शान्ति मिलेगी। शान्ति तो तभी मिलेगी जब कि या तो संसारके प्रत्येक अन्तःकरणमें आप श्रीकृष्णको देखें; पुत्र, स्त्री, माँ—ये सब-के-सब बिलकुल उनके ही रूपमें दीखने लग जायँ। या इन सबको भूलकर पावन वृन्दावनमें मन इतना रम जाय कि बस, ये हैं कि नहीं, इसकी स्मृति भी मनमें न रहे।

४४—आपने अभी व्रज-प्रेमका साधन कदाचित् आरम्भ ही

किया है। यह खाँड़ेकी धार है। ज्ञान और भक्ति दोनोंसे ही यह न्यारी चीज है। यह इतनी ऊँची चीज है कि इसके मार्गमें पैर रखकर चलनेपर संसारको छोड़ ही देना पड़ता है। पर आपका मन अभी संसारकी उन्नतिमें फँसना चाहता है, घर-गृहस्थीके झंझटमें आप कूद-कूदकर पड़ते हैं। मामूली-से-मामूली तुच्छ बातके लिये उखड़कर लोगोंसे चिढ़ जाते हैं तथा परिवार इतना प्यारा है कि इसके लिये आपको बुरा-भला करनेमें कोई ग्लानि नहीं होती। आप ही सोचें, श्रीकृष्ण-प्रेमके मार्गपर चलनेवालेका भला यह ढंग हो सकता है? देखें, चित्तकी बदमाशी नहीं छूटना एक बात है, तथा उसके लिये परवा न होना दूसरी बात है। पर मेरी दृष्टिमें चाहे गलत हो, मुझे ऐसा लगता है कि अभी आपके मनमें यह पूरी लालसा ही नहीं है कि हमारा मन व्रजमें रमे; क्योंकि उसका लक्षण यह है कि मनके भागनेपर, जैसे याद आया कि मन व्रजसे कहीं अन्यत्र गया है, बस, वैसे ही तीव्र व्याकुलता होगी और तुरंत आप उसे व्रजसे जोड़ देंगे; किंतु आप तो शायद जान-बूझकर व्रजप्रेमका चिन्तन छोड़कर दूसरा काम करते हैं। ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्ण ही आपकी सहायता करें, मैं और क्या कहूँ!

व्रजप्रेमी जितने हुए हैं; जितनोंका जीवन मैंने पढ़ा है; प्रायः सभी कहते हैं कि हमारी शक्ति नहीं है कि हम अपना सुधार करें और सचमुच ऐसा ही मानते हैं। पर सुधार न होनेके कारण वे दिन-रात रोते हैं; उनमें कड़ापन, खासकर संतोंके प्रति अकड़ किसीके भी जीवनमें नहीं मिलेगी। अभिमानको तो वे लोग जड़से ही छोड़ देते हैं। इस प्रेमके पीछे न जाने कितने करोड़पति भिखारी बनकर रोटीके सूखे टुकड़े माँगते मारे-मारे फिरे हैं। न तनपर वस्त्र है, न खानेको अन्न। परिवारसे छिपकर अपना जीवन भजनमें बिता चुके हैं। पर आपके जीवनमें

अभीतक मुझे नहीं दीखता कि आपमें व्रज-भक्तोंकी निरभिमानता आ गयी है, रुपयेका महत्त्व कम हो गया है। रुपयेको आप धूलि समझते हों और मानको विष समझते हों—ऐसी बात मुझे अभी नहीं दीखती। वरन् उलटा मुझे तो यह दिखता है कि अभी आपके मनमें धन प्राप्त करनेकी चाह है। और यदि चालू रही तो मेरी समझमें आपका उद्धार तो हो सकता है, पाँच प्रकारकी मुक्ति भी आपको मिल सकती है; पर, यह ढंग रखकर, शास्त्रोंके, जो मैंने पढ़े हैं, देखे हैं, सुने हैं, आधारपर कहता हूँ—आपको यह व्रजप्रेम प्राप्त हो जाना तो बड़ा ही कठिन दीखता है। व्रजप्रेम केवल उसीके लिये है, जो उसके पीछे अपना सब कुछ जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छा रखता हो। संस्कृतमें प्रेमके सिद्धान्तपर बड़े-बड़े सुन्दर ग्रन्थ हैं, इस मार्गके बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं और उन्होंने इस व्रजप्रेमके मार्गको अलग छाँटकर बड़े विलक्षण ढंगसे समझाया है। उन्हें देखनेपर पता चलता है कि यह हँसी-खेल नहीं है, इसमें—भीतरी मनसे अनन्त जन्मोंतक नरकतममें सड़नेकी तैयारी जिसके मनमें होती है, वही बढ़ सकता है। वास्तवमें जो श्रीकृष्णप्रेम है, वह कुछ ऐसी दुर्लभ वस्तु है कि उसके लिये सर्वस्व त्याग करना ही पड़ता है—तुच्छ परिवार-धन-जनकी तो बात ही क्या है। शान्ति मिले, आनन्द मिले, हमें शान्ति नहीं मिलती, नहीं मिली—ये बातें किसके मनमें हैं, उसके लिये व्रजप्रेमकी बात करना, कहना, सुनना तो मजाक उड़ानेकी तरह है।

नारायन घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
बिकल मूरछा सिसकिबौ ये मग के विश्राम॥

श्रीकृष्ण आपपर कृपा करें—और कुछ नहीं केवल आपके मनमें किसी प्रकार **इस संसारसे छूटनेकी लालसा जाग जाय और दीनता**

आ जाय, फिर काम बने, नहीं तो यों संसारको पकड़े रहना और व्रजप्रेम पाना आजतक तो कहीं हुआ नहीं है।

४५—यह जो अशान्ति है और साधना नहीं बनती—इसमें हेतु यही है कि आपको संत एवं भगवान्‌पर श्रद्धा नहीं है। पापके संस्कार श्रद्धा होनेमें बाधक होते हैं? इसीलिये संत कहते हैं—'भजन करो, निरन्तर भजन करो।' भजन करनेसे अन्तःकरणका मल मिट जायगा और मल मिटा कि बस, विक्षेप और आवरण तो बहुत ही आसान चीजें हैं।×××× ने एक बार बड़े प्रेमसे कहा था—मनुष्यको केवल एक काम करना है; भजनके द्वारा मलका नाश कर देना; बिलकुल इतना ही काम उसको करना पड़ेगा और यह काम उसे ही करना पड़ेगा। रहा विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलता, इसे दूर कर देंगे संत तथा भगवान्‌ने जो पर्दा डाल रखा है, उसे हटाकर वे सामने आ जायँगे। 'यही आवरणभङ्ग है।' दृष्टान्त दिया था—जैसे दर्पण है, उसपर चिकटा मल चढ़ा है, वह हिल रहा है और पर्दे लगे हैं। अब रगड़-रगड़कर साफ कर दो—बस, तुम्हारा इतना ही काम है। संत नीचे-ऊपर पेंच कसकर हिलना-भटकना नष्ट कर देंगे! भगवान् पर्दा हटा देंगे। बस, फिर मुख स्पष्ट दीखने लग जायगा। रगड़नेसे यदि परिश्रमका अनुभव हो तो साबुनसे धो दो। निरन्तर नामका जप सहज साबुन है। मनकी मलिनता ही भगवान्‌का आनन्द नहीं लेने देती। अभी आपने लीलाकी, तत्त्वकी इतनी बातें सुनीं; पर इनका आनन्द सबको एक समान नहीं मिला होगा। इसमें एकमात्र हेतु है मनकी मलिनताकी घनता। जिसका मल जितना अधिक घन है, उतना ही इन बातोंका आनन्द वह नहीं उठा सकेगा। नहीं तो, इतनी देरकी बातचीतमें श्रीकृष्णका नाम जितनी बार आया, जब-जब उनके गुणोंकी बात

आयी और वृत्तिने उसे पकड़ा, उतनी-उतनी बार हृदय पिघलकर बहने-सा लगा होता। आप पद सुनते हैं—

'कृष्ण नाम जब ते मैं श्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।'

इसमें रत्तीभर भी अत्युक्ति नहीं, न यह निरी भावुकताकी बात है। बिलकुल सत्य है। यही दशा श्रीगोपीजनोंकी श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुणकी स्मृति-श्रवणसे हो जाती है।

आन्तरिक प्रेमके चिह्न बाह्य शरीरपर प्रकट हो जाते हैं और उनका शास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है। आज भी सच्चे प्रेमियोंमें वे चिह्न प्रकट होते हैं। एक रघुबाबा गोरखपुरमें थे। उनमें 'तनुता'का प्रकाश हुआ था। और भी कई प्रेमविकार उनके शरीरपर स्वयं भाईजीने समय-समयपर देखे। प्रेमपथकी बात ही निराली है। साध्य-साधन एकमात्र श्रीकृष्ण होंगे, वहाँसे पथ शुरू होगा। अभी तो जड 'शरीरका आराम' और 'नामका मोह' पग-पगपर पछाड़ रहा है।

प्रेम उत्पन्न होनेपर बिलकुल 'रही न काहू कामकी'-सी दशा भीतर-भीतर हो जायगी, संसारमें कोई भी आकर्षण आपके लिये नहीं रहेगा। इसकी साधना अपने-आप होती है। अपने-आप परिवारसे, धनसे, सभी प्राणियोंसे मोह हटकर दृष्टि निरन्तर श्रीकृष्णकी ओर लग जाती है। केवल श्रीकृष्ण-चर्चा, केवल श्रीकृष्ण-भजन ही जीवनका उद्देश्य नहीं, स्वभाव हो जाता है। प्रेमकी इतनी पवित्र अवस्था प्रारम्भमें ही होती है कि उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ, किसी प्रकारका आकर्षण (प्रेमास्पदके अतिरिक्त और किसीके प्रति) रहता ही नहीं। इसकी प्रारम्भिक साधना है—

पर्वतकी तरह दृढ़ निश्चय लेकर मनसे श्रीकृष्णका स्मरण,

जीभसे भजन, कानोंसे श्रवण एवं निरन्तर सजातीय वासना-विशिष्ट सत्सङ्गमें जीवन-यापन।

महाप्रभुने पाँच उपाय बतलाये हैं—

(१) निरन्तर नाम-जप, (२) सजातीय-वासनाविशिष्ट सत्सङ्ग, (३) श्रीमद्भागवतका आस्वाद, (४) श्रीविग्रहसेवा, (५) श्रीव्रजवास।

श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि ये पाँचों इतनी विलक्षण शक्ति-सम्पन्न साधनाएँ हैं कि कल्पनातीत शीघ्रतासे भाव, जो प्रेमकी पूर्वकी अवस्था है और जिसका एक नाम 'रति' भी है, उत्पन्न हो जाता है। पर **'सद्धियाम्'** इसकी टीका की गयी है—**'अपराधविहीनानाम्'**। अर्थात् जो भगवत्सेवापराध एवं नामापराधसे रहित हैं; उनमें इस साधनासे एक क्षणमें ही भाव उत्पन्न हो जाता है, अपराधयुक्त प्राणीमें नहीं।

४६—जैसे लकड़ीके दो टुकड़े हैं। उन दोनोंमें अग्नि तो व्याप्त है। न विश्वास हो तो रगड़कर देख लें, उसमेंसे आग निकलेगी। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक प्राणीमें बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर व्याप्त हैं। अब जैसे आग कहीं प्रकट हो जाय और प्रकट होकर किसी लकड़ीके खण्डको पकड़ ले तो फिर लकड़ी उसी आगमें जलकर स्वयं आग बन जाती है। जहाँ अग्निका संयोग हुआ कि वह लकड़ी फिर लकड़ी रह ही नहीं सकती। वह निश्चय-निश्चय आग बन जाती है। ठीक इसी प्रकार, जिस समय भगवान्‌का वास्तविक साक्षात्कार संतको होता है, उसी क्षण वह भगवान्‌में मिल जाता है। ठीक भगवान्‌के रूपका बनकर ही तब भगवान्‌का अनुभव करता है। वस्तुतः तो वह स्थिति इतनी विलक्षण—इतनी अद्‌भुत है कि उसे किसी भी दृष्टान्तसे

समझाया जा नहीं सकता; क्योंकि सभी दृष्टान्त जड-जगत्के हैं और संत एवं भगवान्के मिलनकी बात चिन्मय जगत्की है। पर यदि इस दृष्टान्तको कोई ध्यानमें रखे तो वह कुछ-कुछ कल्पना कर सकता है। भगवान् हैं तो प्रत्येक प्राणीमें, पर कहाँपर किसी कारणसे (प्रेमकी रगड़से) प्रकट हुए और प्रकट होते ही उन्होंने अपने आधारको अर्थात् जिसके लिये जिसमें प्रकट हुए थे उसे बिलकुल पूरा-पूरा अपने समान बना लिया। जलनेके बाद जिस तरह काठ बिलकुल काठ न रहकर अग्नि हो जाता है, ठीक वैसे ही संत देखनेमें तो मामूली मनुष्यकी तरह खाता-पीता, व्यवहार करता है, हँसता-रोता है, संन्यासी न हो तो घर-गृहस्थी भी करता है; परंतु वस्तुतः वह भगवान्की ही एक लीला है। जिससे वे अपनेको छिपाये रहते हैं। प्रश्न यह होता है कि फिर उस शरीरको भगवान् रखते क्यों हैं? रखते हैं इसीलिये कि उसके स्पर्शमें आकर कुछ और भी प्राणी उस आगमें जलकर उसीकी तरह बन जायँ, इसीलिये प्रारब्धकी लीलाका निर्वाह होता है।

शास्त्र पढ़नेसे तो अनेक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो ही जाती है कि सच्चे भगवत्प्राप्त संत भगवान्से अभिन्न हो जाते हैं। युक्तियोंके द्वारा भी मनुष्य इसे समझ सकता है। पर वही समझेगा कि जिसने जीवनका एकमात्र उद्देश्य बनाया है कि 'मुझे प्रभुसे मिलना है।' फिर होता क्या है कि संत स्वयं अपनी गरमी—अपना तेज उसे प्रकट करके दिखलाना शुरू कर देते हैं। उनके तेजका असर तो सबपर होता है, पर बीचमें अहंकार, संसारकी वासना, विषय-सुखकी चाह, उनसे लौकिक स्वार्थपूर्तिकी वासना—ये सब खड़े होकर उनके तेजको देरसे ग्रहण होने देते हैं। जिस दिन जीवनका उद्देश्य एकमात्र भगवान् हो जाते हैं, उस दिन ये सब व्यवधान झड़ जाते हैं, साधक इनको फेंककर

अकिंचन बन जाता है। फिर जहाँपर संत दीखते हैं, उस स्थानपर श्रीकृष्ण दीखें—इसमें तो कहना ही क्या है, उसकी दृष्टिमें सर्वत्र एक श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं और वह दिव्य पावन आनन्दके समुद्रमें डूब जाता है। जबतक यह हो, तबतक शास्त्र आज्ञा देते हैं कि 'चाहे किसी भावसे हो, सम्बन्ध जोड़े रहो।' भगवान्‌की करुणा जैसे अहैतुकरूपसे भगवान्‌में रहती है, संतरूप भगवान्‌की मूर्तिमें भी वह करुणा वैसे ही रहती है और वह करुणा किसी दिन एक क्षणमें तुम्हारे व्यवधानको दूर कर देगी। अवश्य ही अलग हटोगे तो भी निस्तार तो होगा ही; क्योंकि एक बारका सम्बन्ध ही निस्तारके लिये पर्याप्त है। पर कुछ देर लगेगी; क्योंकि आखिर नियमसे सब होता है। कोई कहे कि संत अपने-आपको प्रकट करके जीवोंका उद्धार क्यों नहीं करते तो इसका उत्तर, यदि इसमें लाभ होता तो आप ठीक समझें; यह है कि वे प्रकट होकर नाचते। जिस समय प्रकट होनेसे लाभ होता है, उस समय प्रकट भी होते हैं—हुए हैं। पूर्वकालमें महाप्रभु चैतन्यदेव प्रकट हुए थे और खुलेआम प्रेमका वितरण उन्होंने किया था। उस दिन पेटमें प्रेमकी भूख थी। आज तो जगत्‌के प्राणी चाहते हैं—हमको धन मिले, मान मिले। यह देना उन्हें अभीष्ट है नहीं। अधिकांश जगत्‌का वातावरण आज इसी कामनासे कलुषित हो रहा है। फिर इससे भी ऊपरकी एक बात यह है कि भगवान् कब कौन-सा ढंग स्वीकार करते हैं—इसका रहस्य यदि हम समझ जायँ तो फिर भगवान् भी हमारी तरह मामूली ही सिद्ध हों, उनकी भगवत्ता ही क्या रह जाय। अतः शास्त्र एवं संत स्वयं कहते हैं कि चाहे उनकी कोई चेष्टा ऐसी हो कि जिससे जगत्‌को कम लाभ होता हुआ दीखे; पर निश्चय-निश्चय मान लीजिये कि इसी चेष्टासे इस समय अधिक लाभ होगा। यदि न होता तो वे वैसी चेष्टा करते

ही नहीं; क्योंकि उनमें भ्रम-प्रमादकी गुंजाइश ही नहीं है। इसपर विश्वास करा देना बड़ा कठिन है; पर बात बिलकुल सत्य है—शास्त्रकी है, मेरी नहीं। उन ऋषियोंकी बात है, जिनकी बातें त्रिकाल-सत्य हैं।

बिलकुल उनकी कृपासे ही कोई उन्हें जान सकता है। मुझ-जैसे मलिन प्राणी तो संत एवं भगवान्‌के तत्त्वकी वास्तविक कल्पना भी नहीं कर सकते। बंगालकी बात है—हालकी ही। एक माई थी—विधवा हो गयी। पर भगवान्‌में उसका वात्सल्यभाव हो गया। फिर गोपालको पुत्र मानकर उसने तीस वर्षतक उपासना की। प्रतिदिन गोपालको भावनासे भोजन कराया करती थी। अब गोपालको दया आ गयी। एक दिन आये और सचमुच खाने लग गये। पर आधा खाकर ही भाग गये। वह तो प्रेमसे पगली हो गयी। 'गोपाल', 'गोपाल' चिल्लाती हुई मारी-मारी फिरती। उन्हीं दिनों रामकृष्ण परमहंस नामके कलकत्तेमें एक बहुत बड़े महात्मा हुए थे। कुछ लोग उन्हींके पास जा रहे थे। लोगोंने उस माईसे कहा—'चल, बुढ़िया! गोपाल वहाँ मिलेंगे।' वह तो पगली थी ही, थोड़ा चावल और नमक बाँध लिया कि गोपाल मिलेगा तो खिलाऊँगी। वहाँ पहुँची। लोगोंकी भीड़ थी। परमहंस उपदेश कर रहे थे। तरह-तरहके उपहार, मिठाई, फल आदि लोग लाये थे। सब सामने रखा हुआ था। बुढ़िया गयी। परमहंसको देखते ही बिलकुल शान्त हो गयी। परमहंसने उपदेश बंद कर दिया। बोले—'मैया, मैं तो खिचड़ी खाऊँगा।' खिचड़ी बनी। बुढ़ियाको होश हो गया था। वह सोचने लगी कि 'मैं पगली हो गयी थी। ये महात्मा हैं, इनकी कृपासे अच्छी हो गयी हूँ।' इसको आज्ञा हुई—लोगोंने देखा बुढ़ियाका अहोभाग्य है। बुढ़िया लजा गयी, पर लोगोंने कहा—परमहंस तुम्हारी

खिचड़ी खाना चाहते हैं।' परमहंस रामकृष्ण भी पागलकी तरह रहते थे। बुढ़ियाने खिचड़ी बनायी। पर संकोच था, केवल नमक-चावलकी खिचड़ी महात्माको कैसे खिलाऊँ। रामकृष्ण सभामण्डपसे उछले तथा कूदते-फाँदते वहाँ पहुँचे। 'मैया! खिला, भूख लगी है।' रामकृष्ण बैठ गये; बुढ़ियाने परोस दिया। परोसते ही रामकृष्ण गोपालके रूपमें हो गये। बुढ़िया फिर गोपाल! प्यारा गोपाल—कहकर चिल्लाने लगी। उस दिनसे बुढ़िया एवं गोपालका सम्बन्ध नित्य हो गया। कहनेका मतलब यह है कि एक नहीं—ऐसी कितनी घटनाएँ प्रत्यक्षमें होती हैं कि जिनसे संत एवं भगवान् बिलकुल अभिन्न हैं—यह तो सिद्ध हो ही जाता है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि ग्राहक नहीं है, इसीलिये संत उस रूपमें प्रकट नहीं होते। ऐसे-ऐसे संत हुए हैं कि जिन्होंने केवल एक दृष्टि डालकर मलिन-से-मलिन प्राणीमें उसी क्षण प्रेमका संचार कर दिया है।

एक बात और समझ लेनेकी है। संत एवं भगवान्‌में भेद न होनेपर भी जो प्रेमी संत होते हैं, उनमें 'प्रेमी एवं प्रेमास्पद' ये दो भाव रहते हैं।

जिस प्रकार राधारानी एवं श्रीकृष्ण तत्त्वतः एक हैं, पर फिर भी दोनों दो बने रहते हैं, उसी प्रकार प्रेमी संत भगवान्‌से अभिन्न होते हुए भी पृथक् बने रहते हैं। और जैसे राधारानीको प्रसन्न करनेका गुर श्रीकृष्णकी सेवा और श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका गुर राधारानीकी सेवा है, वैसे ही भक्त और भगवान्‌का भी जोड़ा है।

४७—या तो संतकी अनुभूति सर्वथा मिटा दीजिये और उसकी जगहपर भगवान्‌की ऊँची-से-ऊँची कल्पना जो आपके मनमें हो, उसके अनुसार, उसी भगवत्-सत्ताको अभिव्यक्त देखिये; अथवा भगवान्‌को भी भूलकर सर्वथा एकाग्रचित्तसे एकमात्र यही उद्देश्य बना

लीजिये कि संतके चरणारविन्दमें कैसे प्रेम हो। दोनोंका फल एक ही होगा। दोनोंको एक साथ ले चल सकें, तो भी एक बात है। पर इन दोनों बातोंके अतिरिक्त जो चीज है—वह व्यवधान है, उसे हटा दीजिये। विषयासक्ति, लौकिक स्वार्थ, पारिवारिक मोह—ये व्यवधान हैं। जितनी श्रद्धा है, काफी है। यह नियम है कि वस्तुतः संत यदि कोई हो तो उसमें श्रद्धाकी जरूरत नहीं है; उसकी ओर तो उन्मुख होनेकी जरूरत है। श्रद्धासे तो पत्थरकी मूर्ति भी कल्याण कर देती है। श्रद्धा न हो और फिर ऊँची-से-ऊँची चीज मिल जाय, यही महापुरुषकी विशेषता है। यहाँ फैसला श्रद्धाके तारतम्यसे नहीं होता, उन्मुखताके तारतम्यसे होता है। यही उन्मुखताका तारतम्य ही पारमार्थिक स्थितिके ऊँचे-नीचे स्तरकी प्राप्तिमें हेतु हो जाता है। यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि आप संतके वास्तविक स्वरूपको जानें, बिना जाने सर्वथा अंधकारमें ही रहकर यदि अपना सर्वस्व न्योछावर कर दें तो स्थिति आपको वही मिलेगी, जो जाननेवालोंको मिलेगी। जाननेवालेको कुछ विशेष मिले, यह बात नहीं है; उन्मुख कौन अधिक है—इस बातपर ही स्थिति निर्भर है। कोई भी हो; वह कितनी मात्रामें अपने-आपको मिटाकर उसकी जगह संतको बैठा देनेके लिये तैयार है—यह प्रश्न है। फिर वहाँ जो वास्तविक अभिव्यक्ति अचिन्त्यशक्ति है, भगवत्-सत्ता है, वह उसको उस मात्रामें अपना लेगी। इसलिये उपर्युक्त दो बातोंमें एक बात कीजिये—मेरे कहनेसे नहीं, सर्वथा शास्त्रीय प्रमाणको देखकर। '**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**'—सूत्रको रटकर संतके ढाँचेकी जगह भगवान्‌को देखिये। अथवा 'हे संत, हे संत, हे संत—' यह रट लगाकर बस, सर्वथा '**अनन्यममता विष्णौ**'की जगह '**अनन्यममता संतचरणेषु**' कर लें। सच मानिये, एक ही फल मिलेगा।

मनुष्यका स्वाभाविक हृदय ऐश्वर्यप्रवण होता है और वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा—मान लें, किसीने संतकी जगह सर्वथा भगवान्‌को देखकर चलना प्रारम्भ किया—त्यों-त्यों स्वाभाविक ही उसके मनमें भगवत्-ऐश्वर्यका उदय होगा और वह सोचेगा कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं। पर इस सम्बन्धमें एक नियम याद रखना चाहिये, वह यह कि कल्याण-गुणताके अंशमें (अर्थात् जगत्-उद्धारकी क्रियाके सम्पादनरूप अंशमें) महापुरुषकी ज्यों-की-त्यों वही शक्ति है जो शक्ति अवतारमें अभिव्यक्त होती है। परंतु ऐश्वर्यके प्रकाशकी शक्ति श्रद्धालुकी श्रद्धापर निर्भर है। ऐश्वर्यका प्रकाश केवल उस श्रद्धालुके लिये ही होगा कि जिसका सर्वथा संशयहीन विश्वास, परिपूर्ण विश्वास संतमें एकमात्र भगवान्‌के ही होनेका हो चुका है; जिसके मनमें जरा भी संतपनेकी अनुभूति अलग अवशिष्ट है, उसके लिये बेधड़क प्रकाश नहीं होगा। हमलोगोंमेंसे ऐसा अभी कोई नहीं है, जो किसी संतके प्रति सर्वथा इस श्रद्धाके स्तरपर पहुँचा हो। अतः उसे यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐश्वर्य-अंशमें भगवत्ताके प्रकाश अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वसमर्थताकी अभिव्यक्तिकी ओरसे दृष्टि मोड़ ले। अन्यथा होगा यह कि उसकी श्रद्धाकी कमीके कारण इस शक्तिके प्रकाशमें उसे त्रुटि दीखेगी और वह फिर उधेड़-बुनमें पड़ेगा। इस भागवतीय नियमको याद रखना चाहिये। अवतारमें और भगवद्रूप संतमें, जो जीवभावको लिये हुए जन्मे थे और फिर भगवत्-सत्तामें विलीन हो गये—(दोनोंमें) अन्तर यही है कि जो अनादिसिद्ध भगवान्‌का अवतार है, उसमें तो दोनों शक्तियोंकी अभिव्यक्ति अर्थात् कल्याण-गुणता एवं ऐश्वर्यकी शक्तियोंका प्रकाश बिना श्रद्धाके ही होता है। पर सर्वोच्च संतमें केवल कल्याणगुणता ही

प्रकाशित होती है, ऐश्वर्य श्रद्धालुकी संशयहीन श्रद्धा होनेपर ही कहीं प्रकाशित होता है।

४८—काम करते समय जिस-किसी वस्तुपर दृष्टि जाय, उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छबिको देखनेका अभ्यास कीजिये। साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे। छूटे, फिर पकड़े; इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ जीभसे नाम एवं मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिलकुल आपत्ति नहीं। साधना न हो तो दोषकी बात बिलकुल नहीं है, पर उसके लिये मनमें महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें—समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ, न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणाकर मन एक सेकण्डके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार-बार करते ही गये तो फिर मैं तो संशयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देंगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोंको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नहीं बँधता, तो घबराइये मत। कभी वृन्दावन तो गये ही हैं। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमें हो उसको, उन पेड़-पत्तोंकी धुँधली-सी स्मृति मानस-पटलपर क्या नहीं ला सकते ? मैं ठीक कहता हूँ—मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेंगे वह एक बारकी स्मृति—उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली-सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझें, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेंगे और स्वयं

राधा-रानी एवं श्रीकृष्ण उस लतारूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोड़ेंगे तथा आप चाहें तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं। व्रजकी लताका ध्यान करके लता बननेवाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्तको श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेंगे और विश्वास कर सकेंगे।

स्वयं तो पहले तत्त्वतः श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रजके लता बनेंगे, क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता स्वरूपतः जड वस्तु नहीं है, वह सच्चिदानन्दमय हैं। सोचिये, श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है—बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते हैं, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते हैं, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं! आपसे क्या लता, पेड़, पत्ते, मिट्टीके घड़े, पीतलके कलशेका भी ध्यान नहीं हो सकता? और मजा यह है कि इनमेंसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिलकुल सच्चिदानन्दमय राज्यमें ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

संध्या-समय, आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती हैं। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस-पटलपर लाकर देखिये—गायें आ रही हैं, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन है; क्योंकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमें। पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेड़में, पेड़से मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी

पगडंडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमें, धूलिमें (सब सच्चिदानन्दमय है) मन लगाकर कहीं—कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते हैं। क्या परिश्रम है? केवल चाहकी कमी है।

यहाँ बैठे-बैठे इस कलममें देखें, भावना करें—यह पेड़-सा दीखता है, वृन्दावनमें हरे पेड़ोंका रंग इससे कुछ भिन्न है। अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेंगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देंगे। वे देखेंगे, अपनी जानमें इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है। गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड़-लता मुझे प्यारे हैं—इसने मेरी प्यारी वस्तुओंका चिन्तन किया है। इसका तो मैं ऋणी हूँ। यह भी जाने दें; और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा-राधा। ये शब्द—भावुकताकी बात नहीं है—श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे—

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी। आप केवल व्रज-लीलामें मनको थोड़ा-सा भी ले जानेका अभ्यास डाल लें, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बड़े-बड़े ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नहीं होती। समस्त जीवन रची-पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भागमें बहुत ही कम हाथ लगते हैं; क्योंकि उन्हें भगवत्कृपाका अवलम्बन प्रायः नहीं रहता। पर यह व्रज-लीला ऐसी है कि इसमें रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस

स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है। नहीं तो, रुचि असम्भव है। आप तो अपना परम सौभाग्य समझें। अब केवल थोड़ा-सा और आगे बढ़ जाइये। इस व्रज-लीलाकी कल्पनामें अपने मनको तदाकार कर दें। यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती। अवश्य ही यह होनी चाहिये सच्ची। व्रजभावसे भावित चित्तसे लता, पेड़, पत्ते, पगडंडी, वन, गायें, गोशालाकी भीत, साड़ी, साफा देखते-देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा। वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड़-बुन रहेगी ही नहीं, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा।

४९—अत्यन्त तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ, गंदी-से-गंदी चीज आगमें पड़कर अपना समस्त मैल—अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार किसी भी भगवत्-प्रेमी संतसे मिलिये तो सही, मिलते ही थोड़ा नहीं, पूरा-का-पूरा—सब कुछ, जो भी वे हैं, जो भी उनके हैं, सब...आपमें उतर आयेगा। आग तो जड है और संत चेतन ही नहीं, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमें रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है, कोई दृष्टान्त नहीं है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ लें। जबतक आप ठीक-ठीक उसी रसमें ढलककर अपने-आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है—यह समझना सम्भव ही नहीं है। बस, रस सच्चिदानन्दमय है; आप स्वयं जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड़ लेंगे, तबतक उस रसका आस्वाद नहीं हो सकता। अभी तो मन प्यारा लगता है। पुत्र, परिवार, धन प्यारे लगते हैं। जड़ वस्तुओंकी तह-की-तह चारों

ओरसे लिपटी हुई है। वास्तविक आनन्दकी बात छोड़ दें; संतके प्रति साधारण-से सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हमलोगोंमेंसे शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो ? देखें, मैं कहता हूँ—'आप यह कार्य कर दें' और संत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं। दोनों ही शब्द हैं, पर दोनोंमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमें यह अहंकार वर्तमान है कि मैं हूँ; परंतु आप यह कार्य कर दें—संतके मुखके निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर हैं जो कहता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'
'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥'

परंतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है ? निश्चय ही नहीं मिलता। मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती। वहाँ, संतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'**की घोषणा करता है; जिसमें केवल आनन्द-ही-आनन्द है। पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा हो जानी चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि उसमें मिले नहीं। आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारों ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर वह मिला भी लेगी निश्चय; परंतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नहीं। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उसमें मिल जानेकी तीव्र लालसा नहीं रखते। विश्वास कीजिये—'आप चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी

क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो; पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिलकुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है ? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायगा। अस्तु; मिलिये। उसमें मिलिये। अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये ! दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा कीजिये। दिन-रात सोचिये, संत कितने कृपालु हैं। दिन-रात यह विचार कीजिये—'कृपामय ! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नहीं।' दिन-रात नाम लीजिये, चलते-फिरते नाम लीजिये। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा कीजिये कि संतका संग न छूटे। दिन-रात यही सोचिये कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको संन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा। परंतु यह ठीक है, नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिलकुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका; परंतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी। आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है इसीलिये कहता हूँ—रोटी मुझे भी भगवान् ही देते

हैं, कपड़े भी वे ही देते हैं, आपको भी वे ही देते हैं और देंगे। फिर अपनी एवं परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि 'मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं—वे उन्हें नष्ट कर दें, तोड़ दें, फेंक दें या जो भी चाहे करें—मैं क्यों कहूँ—ऐसा करें, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं—उनकी चाह ही, बस आपकी चाह।' यह भाव ही संत-चरणोंमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है।

५०—आप पाँच सूत्रोंको याद रखें—

(१) विषय-त्यागसे प्रेम।

(२) लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम।

(३) अखण्ड-तैलधारावत् भजनसे प्रेम।

(४) पर मुख्यतः भगवान्‌के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है। और—

(५) यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

पर निमित्तरूप उपाय है—रोना, भगवान्‌के सामने रोते जाना। मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये।

५१—पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रहपर ही मनमें आये; अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमें है—इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्‌पर छोड़कर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमें समय बिताना—यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

५२—एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो; परंतु जब भी, जिस

प्रकार भी बुरे विचार मनमें आयें; उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी संतके पास भेजते रहो; फिर कोई परवा नहीं।

५३—विज्ञानका नियम है—काँच ही नहीं, समस्त धातु बनते ही हैं सूर्यसे। सूर्यकी किरणोंसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है। सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही। उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एवं संतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से-उच्च अधिकारी बन सकता है। आज व्याख्यानमें सुना—लाखों वर्षके अन्धकारको मिटानेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है। जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी। प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा। ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, कुछ भी जरूरत नहीं है, जरूरत है—बस, आप सच्चे मनसे चाह लें उनकी कृपाको ग्रहण करना। निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी। उसी सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि दूसरी कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य वस्तुसे मिटे नहीं।

५४—सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण दोनों ही बातोंके लिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बड़ी विलक्षण हो जायगी। जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य रह जायगा—कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जाय। उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति विनोदमें भी आपको बता देगा तो आप वही करनेके लिये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा। वह करना नहीं पड़ता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है। पर अभी क्या दशा है—विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है। भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय—सबसे सरल उपाय, जिसमें

मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत-समाप्तिके समय बताया है, पर उसे कौन करनेके लिये तैयार है ? भगवान्‌ने कहा है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १६-१७, १९)

'हँसनेवालोंकी परवा छोड़ दो, लज्जा एवं देहाभिमानादि भी छोड़ दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। जबतक सभी भूतोंमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एवं वाणीकी वृत्तिसे ऐसी उपासना करो। भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमें सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोंमें मन, वाणी एवं शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना की जाय।'

ये भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर उपदेशक न कोई है, न हुआ है, न होगा। पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा। तरह-तरहकी युक्तियोंका, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देंगे। इसी प्रकार महापुरुषोंमें श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व-त्यागका प्रश्न खड़ा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड़ दीजिये, तुच्छ-से-तुच्छ त्याग भी सहजमें नहीं होगा। आपको जीवन-निर्वाहके लिये कमी नहीं

है। पर मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरा-सा कहीं भी उसमें नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय तो सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। ठीक ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, संतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने-आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

५५—हमलोग असलमें भगवान्‌की महिमा जानते ही नहीं। जानते होते, तो उन भगवान्‌का साक्षात् करके उनके साथ तरह-तरहके नित्य नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषको देखकर जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना असम्भव है। आप विचारें, भारतवर्षके मुख्य मन्त्रीसे मिलकर जब कोई आदमी बँगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर थोड़ा मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये तथा कहीं वह किसीको मोटरमें साथ बैठा ले, उस समय तो उसके गौरवकी, उसके मनमें अपने ऊँचे होनेकी भावनाकी जो तरङ्गें उठती हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भला, ऐसे-ऐसे अनन्त मुख्यमन्त्री ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके इशारेसे एक क्षणमें पलक मारते-मारते बन जाते हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं, वह अखिल ब्रह्माण्डपति स्वयं जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, उनके साथ तरह-तरहकी लीला करें, तो ऐसे पुरुषसे बढ़कर जगत्‌में और कौन है? मान लें कोई महापुरुष है, वह एकान्त कमरेमें बैठा भगवान्‌से बातें कर रहा है, उसी समय आप आये, बाहरसे पुकारा और पुकारते ही वह महापुरुष आपसे बड़े प्रेमसे कहे—आओ, पधारो। अब यदि आप रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते, तो फिर ऐसा अनुभव होता कि जगत्‌में हमसे बढ़कर

भाग्यवान् कोई नहीं है। अशान्तिकी तो छाया भी आपको नहीं छू सकती और मन उस अतुलनीय आनन्दसे निरन्तर इस प्रकार भरा रहता कि जगत् आपको देखकर दंग रह जाता। अरे, जिन आँखोंसे उस महापुरुषने अभी-अभी भगवान्‌को देखा है, अभी-अभी जिस शरीरको भगवान्‌ने स्पर्श किया है, उन्हीं आँखोंसे वह महापुरुष आपको देख रहा है, उसी शरीरसे आपको स्पर्श कर रहा है; सच मानिये—यदि किसी दिन भगवान्‌की अपार कृपासे भगवान्‌की महत्तापर विश्वास कीजियेगा, उसी दिन बस, महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है—यह समझ सकियेगा। मन बिलकुल विषयोंसे कूट-कूटकर भरा है। हम लोगोंका मन एकदम गंदा है, इसीलिये महापुरुषके दर्शनका हमें आनन्द नहीं मिलता। समझना-समझाना कठिन है; पर वस्तुतः महापुरुषके सङ्गका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती। वह आनन्द क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है, कभी समाप्त नहीं होता। हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोग प्रार्थना करें—'प्रभो! अत्यन्त पामर, दीन, हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो। नाथ! तुम्हारे जन संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो।' प्रतिदिन प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे बड़ा काम होता है। सच मानिये—ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भगवान् न दे सकें। ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें। वे असम्भवको सम्भव एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं। पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है।

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमें आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शंका-संदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी, भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई।
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहे नाथ भलाई?॥

'नाथ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य-निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता, तब मेरे नाथ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो।'

बिलकुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं निश्चय मानिये—जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्‌में, विनोदकी भाषामें कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें। अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी? एक ओर अखिल ब्रह्माण्डपति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा। इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्‌की होगी।

५६—सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं। काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ—सब सूर्य ही बनाते हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है। पर उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमेंसे किसीपर तो किरण खूब चमकती है, किसीपर किरण पड़कर थोड़ा गरम होकर ही रह जाती है। इसी प्रकार अहैतुकी कृपा ही सबमें भगवद्विश्वास पैदा कराती है। धीरे-धीरे यह

कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामें पड़े रहकर अपने-आप अन्तःकरण पूर्ण कृपा-प्रकाशका अधिकारी बन जाता है। इसलिये घबराना नहीं चाहिये—बस, पड़े रहना चाहिये कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें। फिर आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा।

५७—यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा; परंतु भगवान्‌में यह बात नहीं है। भगवान् और भगवान्‌का स्मरण दो वस्तु नहीं हैं। जिस समय आप भगवान्‌की मूर्ति अपने मानसपटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमें आ जाते हैं। पर वे बोलते इसलिये नहीं हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और थोड़ी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं। यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रखें तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायँगे; क्योंकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं। जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं। आप ही सोचें—धन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है ? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसीसे पूछी थी ? नहीं पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी, क्योंकि धनकी चाह थी। इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौड़ेगी। धन तो चाहनेमात्रसे नहीं मिलता, उसके लिये न जाने कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं। पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है। 'हे नाथ ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायँगे। आप ही सोचें—जब भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके

लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं ? और जब उसकी कीमत आपके मनमें अधिक है तो भगवान् क्यों आयें ? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है; पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे। मैं तो अपनी बात कहता हूँ—सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे।

५८—**मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई।**
जहँ जहँ अंगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि
इक रसना मो पै बरनि न जाई॥
गोबिंद प्रभुकी बानिक ऊपर
बलि बलि रसिक चूड़ामनि राई॥

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेनेपर भी श्यामसुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता। त्रिभुवनमें सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते हैं; पर शास्त्रमें ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोड़वें अंशके करोड़वें अंशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है। श्रीकृष्णके एक-एक अंगपर करोड़ों कामदेवोंकी छबि फीकी पड़ जाती है। यह केवल भावुकताकी बात नहीं है। सचमुच ही जिन संतोंको उनकी हलकी-सी झाँकी मिल जाती है, वे बिलकुल पागल-से हो जाते हैं। इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोंका हृदय बिक जाता है। साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकोंका नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन धाममें जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर-अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण-नाम सुननेका एवं उनकी

वंशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हें प्राप्त होता है। बस, एक बार इन तीनोंमेंसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्‌में कहीं कोई तुलना ही नहीं है। सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे हैं, उन्हें 'हिलग'के पद कहते हैं। यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता। जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर भजन-स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है। अस्तु, जब गोपियोंकी व्याकुलता—श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हें सेवाका अधिकार मिलता है। फिर एक लीला होती है—विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोंको छोड़कर मथुरा चले जाते हैं और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं। इसी वियोगकी दशामें प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है। प्रेम क्या वस्तु है, यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओंने लीला देख-देखकर जो पद लिखे हैं, वे विरहके पद कहे जाते हैं। महात्माओंके जो पद मिलते हैं, उनमें भी कुछ ऐसे हैं, जो कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर—अनुभव करके लिखे गये हैं। यह निर्णय पहुँचे हुए संतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौन कल्पनाका। पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये, पामर प्राणियोंके लिये तो सभी पद—चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों—पवित्र करनेवाले ही हैं। अतः श्रद्धासे युक्त होकर व्रजसुन्दरियोंकी कैसी दशा होती है, प्रेमकी कैसी विलक्षण अतुलनीय अवस्था होती है—इसे सुनकर कृतार्थ

होनेकी आशासे, उन व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए, उनकी कृपाके एक कणकी भीख माँगते हुए हमलोग उनकी विरह-चर्चा करें, सुनें। मन लगानेके उद्देश्यसे नहीं, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करें।

उन विरहके पदोंमें भी कई तो श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके। पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं। अस्तु, किसीके भी हों, हमारे-जैसोंको चरणोंमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओंको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें—यही राधारानीसे, व्रज-सुन्दरियोंसे एवं श्रीकृष्णसे प्रार्थना है।

५९—प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमें होता है। रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है। उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है—प्रेम-वैचित्त्य। इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमें ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोंमें भी होना सम्भव है। इसमें होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमें रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर लेटी रहती हैं, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमें छोड़कर कहीं चले गये और रोने लगती हैं—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है। श्रीकृष्णकी गोदमें रहकर ही ऐसी दशा होती है। श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द-निमग्न होते हैं तथा राधाप्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते हैं।

रासलीलामें सब गोपियोंको छोड़कर श्रीकृष्ण राधारानीको एकान्तमें ले चले। वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरङ्गोंका प्रवाह आरम्भ हुआ। श्लोकोंमें उसका संकेत श्रीशुकदेवजीने किया है।

इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई। यह मान यहाँका निकृष्ट अभिमान नहीं है। लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर चले गये; पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी। यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नहीं कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका संकेत प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपनी रासकी टीकामें इसका संकेत भी किया है। अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते-बढ़ते वैचित्त्यकी अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगीं कि श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं। 'हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ !' आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमें पड़ी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही हैं और श्रीकृष्ण आनन्दमें डूब रहे हैं। श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं। उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामें ले चलें, उन्हें गोपियाँ दीखने लग जाती हैं। इसलिये श्रीकृष्ण वहीं वृक्षोंकी आड़में खड़े हो जाते हैं, गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामें पाती हैं, उनको चेत कराती हैं। राधारानी समझती हैं कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर बहुत पहले चले गये हैं, पर श्रीकृष्ण तो उन्हें अभी-अभी छोड़कर गये हैं। इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजीमें ही होता है। हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्नस्तरमें भी जा पहुँचें तो जगत्‌की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती हैं—एक सखियोंके साथ, सखियोंकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमें, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं। प्रेमके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है। उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मञ्जरियोंको, दासियोंको, सहेलियोंको, सखियोंको—निकुञ्जछिद्रोंसे होता है और कुछका तो बिलकुल ही नहीं होता।

ऐश्वर्य, गुण-ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों-की-त्यों रहती है, पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम—सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है।

६०—जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्णकी प्राप्ति बनाकर जबतक मनसे अधिक-से-अधिक श्रीकृष्ण-चिन्तन नहीं होता, तबतक प्रेमी भक्तोंके प्रति आकर्षण तेजीसे बढ़ना कठिन है। आवश्यकता है केवल इसी बातकी—जिस किसी भी प्रकारसे मनमें श्रीकृष्णके गुणोंकी, लीलाकी, नामकी मधुर-मधुर स्मृति बनी ही रहे। बस, इसी बातकी चेष्टा करें, इसीमें जीवनका साफल्य है और ऐसा करनेसे ही रास्ता तय होगा।

आँखोंके सामने आप यह स्थान देख रहे हैं, पाल तना दीख पड़ रहा है, पर यहींपर दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन-राज्य है, यहींपर श्रीकृष्ण हैं और समस्त लीला ठीक यहींपर चल रही है। मनसे चिन्तन कीजिये—'संध्याका समय है। वनसे श्रीकृष्ण गायें चराकर लौट रहे हैं। आगे गायोंकी कतार है, गायें हुमग-हुमगकर श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हैं। पीछे भी गायोंकी कतार है। बीचमें भगवान् अत्यन्त मधुर स्वरसे वंशी बजा रहे हैं। ध्वनिकी मधुरताके कारण गायोंमें भी एक

अत्यन्त शान्ति-सी बीच-बीचमें आ जाती है। श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हुए हैं। घुँघराले केश मन्द-मन्द हवाके झोंकोंसे ललाटपर आ जाते हैं। उन्हें वे बायें हाथसे हटा देते हैं। सड़कके किनारे श्रीगोपीजनोंकी कतार लगी हुई है। श्रीकृष्ण अपने बालोंको हटाकर कभी किनारेकी ओर, कभी पीछेकी ओर ताक देते हैं, मुसकरा देते हैं। थोड़ा आगे बढ़ते हैं, गायें भी आगे बढ़ती हैं। ग्वालबाल कभी उनके पीछे हो जाते हैं, कभी आगे....' इस प्रकार मनको कभी गायमें, कभी ग्वालबालमें, कभी श्रीकृष्णमें, कभी श्रीकृष्णके मुकुटमें, कभी उनकी घुँघराली अलकोंमें, कभी वंशीमें, कभी चरणोंमें, कभी वृन्दावनके कदम्बके पेड़में, कभी आमके पेड़में और कभी अमरूदके पेड़में स्थिर करनेकी चेष्टा करें। मनको मुकुट देखनेमें लगाया और फिर आसानीसे जितनी देर वह टिक सके उतनी देर उसे टिकाकर, जब हटने लगे तो उनके किसी दूसरे अङ्गमें लगा लें, फिर वहाँसे उचटे तो तीसरे अङ्गमें लगाते रहिये। वन, नदी, पर्वत, गाय, सड़क, गोपी, ग्वाल-बाल, आम, अमरूद, छीके, डंडे, बाँसुरी—ऐसी अनन्त चीजें हैं, जिनमें चाहियेगा तो मन लगा सकते हैं। बस, मनको फुरसत मत दीजिये। जीभ तो मशीनकी तरह नाम लेती रहे और मन वृन्दावनके किसी भी पदार्थका चिन्तन ही करता रहे। बहुत जरूरी हो तभी मनको बाहर लाइये। नहीं तो, अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको वृन्दावनीय किसी भी पदार्थमें तदाकार करते रहिये। अभ्यास करनेसे होगा, खूब आसानीसे होने लगेगा। सब भूलकर इसकी चेष्टा कीजिये; नहीं करेंगे तो फिर कोई उपाय नहीं है।

जहाँ भीत दीखती है, मकान दीखते हैं, टीले दीखते हैं, कुँआ दीखता है, पेड़ दीखते हैं, वहाँ आँख मूँदकर एक बार खूब दृढ़तासे निश्चय कीजिये—'ओह! यहाँ तो वृन्दावन है; बस, वे पेड़, वे दृश्य

हैं। बस, सामने श्रीकृष्ण हैं, गायें हैं, बस-बस यही है। इस प्रकार जितनी लीलाएँ पढ़ी हैं, सुनी हैं, जितनी सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनमेंसे जिसकी ओर मन टने, उसीमें रम जाइये। तभी रास्ता तय होगा। मनको तन्मय करना पड़ेगा ही, चाहे कैसे भी करें। उनकी कृपाका आश्रय लेकर करें तो कुछ भी असम्भव नहीं।

घबराना नहीं चाहिये। जिनकी अनन्त कृपासे मनमें धुँधली लालसा पैदा हुई है, उनकी कृपा निश्चय ही आगे भी बढ़ा ले जायगी। जल्दी या देरी, पहुँचना तो है ही। राधा ! राधा ! राधा !

अभ्याससे सफलता मिलेगी ही। नाम तो खूब जल्दी सध जायगा। हाँ, मनको खास स्वरूपकी ओर अथवा लीलाकी ओर लगाकर दूसरा काम करनेमें विशेष गाढ़े अभ्यासकी आवश्यकता है। बीच-बीचमें जल्दी-जल्दी स्मृति तो थोड़े ही अभ्याससे सम्भव है।

६१—**छिनहिं छिन सुरति होति री माई।**

बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई॥
साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई।
रूप सुधा आनंद सिंधुमें झलमलात तरुनाई॥
अंग अंग प्रति मैंने सैन सजि धीरज देत छुड़ाई।
उड़ि उड़ि लगत दृगनि टोना सो जगमोहनी कन्हाई॥
मरियत सोचि सोचि बिन बातनि हौं बन गहन भुलाई।
बल्लभ औचक आय मंद हँसि गहि भुज कंठ लगाई॥

पद्यका भावार्थ यह है—श्रीगोपी अथवा श्रीराधाजी कहती हैं—'सखि ! बार-बार स्मृति हो रही है। वह बोलना, मिलना, चलना, मुसकाते हुए देखना, प्रीतिकी रीति, प्यारभरी चतुरता बार-बार याद आ जाती है। संध्याके समय श्यामसुन्दर गायोंके साथ आते थे, उस समय

उनकी मनोहर छबि देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सुन्दरता-रूपी आनन्दमय-अमृतमय समुद्र लहरा रहा हो और तरुणता (किशोरावस्था) रूपी तरङ्गें उसमें झलमल-झलमल कर रही हों। श्यामसुन्दरका एक-एक अङ्ग क्या था, मानो कामदेवकी सेना हो। धीरज बरबस छूट जाता था। आँखोंपर किसी अङ्गकी छबि पड़ते ही मालूम पड़ता था मानो श्यामसुन्दर-रूप जादूगरने टोना फेंका हो। समस्त जगत्‌को मोहनेवाले कन्हाई अपने अङ्गोंकी छबिका टोना फेंककर हमें मोहित कर लेते थे। एक दिन मैं वनमें, गहन वनमें भूल गयी थी—उन प्रसङ्गोंकी याद कर-करके मृत्युका-सा दुःख होता है। इतनेमें ही अचानक श्यामसुन्दर आये और मन्द-मन्द मुसकाकर मेरी भुजाओंको पकड़कर मुझे कण्ठसे लगा लिया।'

पदके इन भावोंपर एकान्तमें बैठकर विचार कीजिये। विचार करते समय मनमें एक रसकी धारा बह उठेगी। आप उसमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जायँगे।

६२—सभी प्रेममयी लीला तथा सभी ऐश्वर्यमयी लीला, समस्त लीलाओंका आधार भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं। श्रीकृष्ण लीलाका आस्वाद लेते हैं और श्रीराधाजी लीलाका आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीलाके भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाके भी अनन्त स्तर हैं। व्रजलीलामें ग्वालबालोंके साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनोंके साथ जो लीला होती है तथा श्रीराधाजीके साथ—केवल एक श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, इन तीनोंमें बड़ा अन्तर होता है।

इन तीनों लीलाओंमें भी कई स्तर हैं। इन स्तरोंका अनुभव प्रेमी साधककी साधनापर ही निर्भर रहता है। जो जितना ऊँचा होता है, वह

उतने ही ऊँचे स्तरका अनुभव करता है। इन तीन लीलाओंमें जो गोप—ग्वाल-बालके सङ्गकी लीला है, उसका अनुभव तो कुछ भाग्यवान् संत कर पाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या भी बहुत कम ही है। पर श्रीगोपीजनोंके साथकी लीलाका अनुभव करनेवाले संत तो बहुत ही थोड़े होते हैं। तथा श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, उस लीलाका अनुभव करनेवाले तो इने-गिने कुछ बिरले ही होते हैं। बात कर लेना आसान है। शास्त्र पढ़कर हम बहुत-सी बातें, लोगोंको चकित कर देनेवाली बातें बता सकते हैं; परंतु सचमुच इन लीलाओंका दर्शन होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, इनमें स्वयं सम्मिलित होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य तो श्रीराधारानीकी, श्रीकृष्णकी महान् कृपासे किसी-किसीको ही होता है। जहाँ समस्त परमार्थ-साधना एवं साध्यतत्त्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीला-तत्त्वका श्रीगणेश होता है। पर यह बात दिमागमें तबतक नहीं आ सकती, जबतक कि भगवत्कृपासे अन्तःकरण सर्वथा निर्मल होकर कृपाके ही परायण नहीं हो जाता।

वेदान्तकी सच्ची साधना यदि हो और सचमुच हम ब्रह्मप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके बाद वस्तुतः आगे जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय साधनाका मार्ग है, वह आरम्भ हो, तब कहीं सम्भव है कि मनुष्य असली सगुण-तत्त्वका रहस्य समझ सके। नहीं तो, होता क्या है कि दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो जाती है। पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्त्व है, जो सर्वथा किसी भी साधनाके द्वारा नहीं समझा जा सकता। उस स्थितिकी प्राप्ति सभी ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंको भी हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है! हो भी सकती है नहीं भी।

ये सब उलटी-सीधी बातें—शास्त्रीय ज्ञान, तत्त्वज्ञानकी चर्चा आदि तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाय, यदि स्वप्नमें भी उसे एक हलकी-सी श्रीकृष्णके रूपकी झाँकी देखनेको मिल जाय। वह जबतक नहीं मिलती, तभीतक सारी बहस, सारी उधेड़-बुन है। नारायण-स्वामी थे—एक बार वे बैठे हुए थे, सामने श्रीकृष्ण दीखे। वे लगे दौड़ने। दौड़ते-दौड़ते कुसुम-सरोवरपर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीकृष्ण पीठकी ओर आ गये। फिर पीछे दौड़, दौड़ते-दौड़ते अपने स्थानपर आ गये। इसी प्रकार दिनभर दौड़ते देखकर पुजारीने पूछा—'बाबा! क्यों दौड़ते हो?' उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। बहुत आग्रह करनेपर बोले—'भैया! श्रीकृष्ण दीखते हैं, दीखनेपर ऐसी इच्छा होती है कि पकड़कर इनके हृदयमें समा जाऊँ; पर वे भागने लगते हैं। मैं भी दौड़ने लगता हूँ। दौड़ते-दौड़ते जब थक जाता हूँ तब वे पीछे दीखने लग जाते हैं। मैं फिर पीछेकी ओर दौड़ने लगता हूँ। सारे दिन यही लीला चलती रहती है।' पुजारीने पूछा—'बाबा! उनसे कुछ पूछते नहीं?' स्वामीजीने कहा—'पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं और सोचता हूँ—यह बात पूछूँगा, यह शास्त्रीय बात जान लूँगा, पर रूप देखते ही सब भूल जाता हूँ। बस, देखते ही रह जानेकी इच्छा छोड़कर बाकी सब भूल जाता हूँ।'

६३—श्रीकृष्ण श्रीगोपीजनोंसे कुरुक्षेत्रमें मिलनेपर कहते हैं—'गोपियो! तुमने हमें कृतघ्न समझा होगा; क्या करें' कामकाजकी भीड़में लग गये। देखो, ईश्वर ही प्राणियोंका संयोग करता है और वही पुनः वियोग कराता है।'.....'सौभाग्यकी बात है कि 'हमारे प्रति तुमलोगोंका प्रेम निश्चल रहा।' बस, यह प्रेम ही सचमुच सार है। इस प्रकारका श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। पर वास्तवमें श्रीकृष्ण गोपीजनोंसे

हटकर भी नहीं हटे थे, श्रीकृष्ण हटते ही नहीं। उद्धवजीके ज्ञानका गर्व शान्त होनेपर जब वे श्रीकृष्णके पास लौटे हैं, उस समयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन नन्ददासजीने किया है—

गोपी गुन गावन लग्यौ मोहन गुन गयौ भूलि।

× × × ×

करुणामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही लौं नहिं लख्यौ तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यौ ब्रज जाय कै तुम्हरौ निर्दय रूप।
जे तुम कौं अवलंबहीं तिन कौं मेलौ कूप॥
कौन यह धर्म है।
पुनि पुनि कहै अहो स्याम! जाय वृंदावन रहिये।
परम प्रेम कौ पुंज जहाँ गोपिन सँग लहिये॥
और काम सब छाँड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात है अबहीं नेहु सनेहु॥
करौगे फिरि कहा।
सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ।
बिबस प्रेम आबेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहिं साँवर गात।
कल्पतरोरुह साँवरौ ब्रजबनिता भईं पात॥
उलहि अँग-अँग ते।
है सचेत कहि भले सखा! पठए सुचि ल्यावन।
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन॥
मोमें उन में अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखौ मो माहिं वे त्यों हीं उनहीं माहिं॥
तरंगनि वारि ज्यों।

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी।
ऊधौ भ्रमहि निवारि डारि मुख मोह की जारी॥
अपनो रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय।
'नंददास' पावन भये जो यह लीला गाय॥
प्रेम रस पुंजनी।

श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं, श्रीगोपियाँ हैं। श्रीराधा, श्रीगोपियाँ ही श्रीकृष्ण हैं। पर वियोगके बिना प्रेमका विकास नहीं होता—यह दिखानेके लिये जगत्‌के साधकोंको कृतार्थ करनेके लिये, प्रेमसाधनाकी पद्धति सिखानेके लिये वियोगका अभिनयमात्र किया गया था।

व्रजमें आज भी लीला चलती रहती है, नित्य रसमयी लीलाका प्रवाह अनादि कालसे चलता आ रहा है, अनन्त कालतक चलता रहेगा। साधक जब उस लीलामें प्रवेश करता है, तब पहले कुछ दिन वहाँ नित्य सखियोंके सङ्गमें रहकर पकाया जाता है। वही हिलगकी स्थिति है। इसके बाद जब व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब रासमें सर्वप्रथम मिलन होकर—अनन्त कालके लिये स्वयं भी सेवामें अधिकार पाकर निहाल हो जाता है यह एक साधारण नियम है। यों तो कृष्ण जो चाहें, वही नियम साधकके लिये बन जायगा। प्रेममें त्याग ही-त्याग है। जिसके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही साध्य-साधन हैं, उसीके लिये यह पथ है, दूसरेके लिये इसकी गुंजाइश नहीं है। पतिव्रताकी तरह उसे बाट देखनी पड़ती है कि पतिका संदेशा लेकर कौन आता है, स्वयं चलकर दूतकी तलाशमें पतिव्रता नहीं जाती। स्वामीका दूत ही पतिव्रताके पास आता है। उसी प्रकार साधक श्रीकृष्णका नाम लेकर निरन्तर आँसू बहाता रहता है और श्रीकृष्णकी ओरसे समयोचित—अधिकारोचित चेष्टा होती है।

मनमें तीव्र लगन, तीव्र चाह, उत्कण्ठाकी तीव्र आग है; पर बाहर किससे कहे ? साधक समझता है—'मेरे नाथ ! तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारे पास साधन है, तुम चाहो तो आ सकते हो, पर मैं चलकर भी तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकता। मेरे जीवनधन ! अनन्त जीवनकी चाह लेकर बैठा हूँ, कृपाकी डोरीको स्वयं कृपा करके पकड़ा दो। अंधा हूँ, पथ नहीं जानता। मेरे प्रियतम ! जिस पथसे चलना चाहता हूँ, उसमें कोई साथी नहीं। तुम्हारे सिवा अवलम्बन नहीं, एकमात्र तुम्हीं सम्हाल सकते हो। सम्हाल लो, नाथ ! ऐसी प्रार्थना हो, निरन्तर मशीनकी तरह नाम मुँहसे निकलता रहे तथा मन लीलाकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता रहे—यही करना चाहिये।

आप सायंकाल ज्योनारमें बैठे रह सकते हैं, पर मनसे अपनेको बरसानेके सरोवरपर रख सकते हैं, देख सकते हैं। वहाँ श्रीराधारानी हैं, ललिता हैं, श्रीकृष्ण हैं, मधुर वंशी बज रही है। सब हो सकता है; पर चलना होगा आपको ही, इसकी तैयारी करनी पड़ेगी आपको ही। सारा प्रपञ्च, सारा व्यवहार इसीके अनुकूल होनेपर ही स्वीकार्य है; अन्यथा तुरंत सबकी आहुति देनेके लिये सच्ची लगन रखनी पड़ेगी। मित्र रहेंगे, परिवार रहेगा, माँ रहेगी, पुत्र रहेंगे; आपके सिरपर पगड़ी, टोपी, बदनपर कोट भी ऐसा ही रहेगा, पर मनमें एक विलक्षण व्याकुलताकी आग जलती रहेगी। यह जलन बढ़ती ही चली जायगी। 'कैसे श्रीकृष्ण-चरणोंमें न्योछावर हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ' ? एकान्तमें बैठकर रो पड़ियेगा। यह होगा उनकी कृपासे ही; पर उसके पहले आप भावना कीजिये, उनकी कृपा अनन्त है। कृपाको ग्रहण करते चले जाइये। ***'प्रेमगली अति साँकरी, तामें द्वै न समाय।'***

६४—यहाँ आप जो वन, पर्वत, नदी, झरने, स्त्री, पुरुष, हिरन,

गाय, पक्षी, महल, सड़क देखते हैं, जो कुछ भी स्त्री-पुरुषोंमें, पिता-पुत्रमें, मित्र-मित्रमें प्रेमका भाव देखते हैं, इन्हें देखकर उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी कुछ कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें वह राज्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी उन-उन चीजोंके आधारपर ही ये चीजें भी कल्पित हुई हैं, उसके आधारपर ही चीजें हैं, उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी छाया-जैसी हैं। समझने-समझानेके लिये कोई दृष्टान्त ही नहीं है। एक दिन सोच रहा था कैसे समझाऊँ ? पासमें कमण्डलु पड़ा था, सूर्यकी किरणोंमें उसकी छाया पड़ रही थी। मैंने कमण्डलुको घुमाना शुरू किया। विचित्र-सी छाया बनती गयी। उस छायाको देखकर कभी तो यह अनुमान हो सकता था कि कमण्डलु इस छायाका आधार है; पर कभी-कभी तो यह पता ही नहीं लग सकता था कि ऐसी छायाका आधार भी कमण्डलु हो सकता है। कुछ ऐसे ही यहाँ भी समझ सकते हैं। यहाँ जो कुछ दीख रहा है—पहाड़, नदी, वन, सूर्य, चन्द्र, गाय, सरोवर, बर्तन, साड़ी, डंडा, स्त्री-पुरुषका ढाँचा, आपसमें प्रेमका व्यवहार—सब-की-सब चीजें उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी नकल हैं। इन सबका आधार वह सच्चिदानन्दमय राज्य ही है। पर वह दिव्य राज्य त्रिगुणात्मक मायाके आवरणके अन्तरालसे प्रतिभासित होकर विकृत हो जाता है। जहाँ आपको ये चीजें दीखती हैं, वहींपर महान् अनिर्वचनीय दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन है। पर अभी तो उसकी कल्पना सर्वथा असम्भव है। हाँ, इनको न देखकर इसके आधारपर दृष्टि डालते ही, मन टिकाते ही, इस भ्रान्तिमय छाया-स्वरूप राज्यकी निवृत्ति हो जायगी; फिर वह चीज देखनेको मिलेगी, जो सर्वथा सब ओरसे विकारहीन सच्चिदानन्दमय है।

सच्चे वेदान्ती तो साधना करके सत्तास्वरूप सच्चिदानन्दमय राज्यमें विलीन हो जाते हैं। पर जो लड़ने-झगड़नेवाले हैं, उन्हें यह समझना ही कठिन है कि ऐसी भ्रान्ति इस रूपमें क्यों होती है। उनकी बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि ठीक इस भ्रान्तिके अन्तरालमें कुछ-न-कुछ ऐसी ही, ज्यों-की-त्यों चीज है, जिसके कारण यह भ्रान्ति है।

यहाँ आप पदोंमें सुनते हैं—श्रीकृष्ण गोपियोंको छेड़ते हैं, किसीका हाथ पकड़ लेते हैं। अब ये चेष्टाएँ यद्यपि हैं ठीक ऐसी ही, पर ऐसी होकर भी ये लौकिक नहीं, परम दिव्य हैं, सर्वथा चित्-आनन्दसे सब ओरसे ओतप्रोत हैं। उन्हें बुद्धिसे समझा ही नहीं जा सकता। उनका तो कोई बिरले भाग्यवान् महात्मा ही अनुभव करते हैं। अनुभवके पहले तो इन लीला-प्रसङ्गोंमें यहाँकी विकारमयी चीजोंके विकारमय भावोंका ही अधिकांश आरोप हो जाता है। महात्मालोग ऐसी लीलाको चीनीके तूँबेसे उपमा देते हैं। चीनीका बनाया हुआ तूँबा देखकर कोई भी समझ नहीं सकता कि यह कड़वे तूँबेके अतिरिक्त कोई और चीज है। वह उसकी कटुताकी ही कल्पना सर्वथा करता है। ऐसी ही उस लीलाकी अत्यन्त माधुर्यमयी, सच्चिदानन्दमयी बातें भी अनधिकारियोंके द्वारा विकृत हो जाती हैं। सर्वथा श्रीकृष्णकी कृपासे जो साधनामें प्रवृत्त होता है, वही अनुभव करके निहाल होता है, अन्यथा कोई भी उपाय नहीं है। खूब सोच लें, यह दृढ़ सिद्धान्त मान लें—समस्त जागतिक आसक्ति मिटाकर, समस्त आश्रय त्यागकर श्रीकृष्णको पकड़ना होगा, केवल तभी इस लीलाका उन्मेष सम्भव है। नहीं तो ब्रह्म-प्राप्त पुरुषोंमें भी इसका उन्मेष हो ही, यह नियम नहीं है।

६५—जितनी चीजें आप देखते हैं, जो आपको प्यारी लगती हैं, जो

भाव आपको प्यारा लगता है, यहाँ इस राज्यके सम्बन्धसे तोड़कर उसे दिव्य राज्यसे जोड़ दीजिये। सुन्दर-से-सुन्दर बगीचा देखा है, कुञ्ज देखी है, उसीके आधारपर उसमें दिव्यताका भाव करके, उसका वृन्दावन-कुञ्जके रूपमें चिन्तन कीजिये। आपके मनमें बढ़िया-से-बढ़िया घड़ेकी जो कल्पना हो, उसका मानसिक चित्र खींचकर उससे श्रीकृष्णका हाथ धुलाना है—यह समझकर उस कलशेका ध्यान कीजिये। इसी प्रकार जिस लीलाका भी वर्णन पढ़ते हैं, उसके प्रत्येक वाक्यमें एक-एक, दो-दो चीजोंका उल्लेख मिलेगा, जिन्हें आपने देखा है। बस, उन्हींका चिन्तन कीजिये। एकसे मन उचटते ही दूसरेसे जोड़ दीजिये। जिस प्रकारसे भी हो, मनको उसी राज्यकी किसी वस्तुसे जोड़े रहिये। फिर निश्चय मानिये कि उसीको निमित्त बनाकर श्रीकृष्णके दिव्य राज्यमें प्रवेशाधिकार मिल जायगा। मन टिकते ही इस भ्रान्तिमय राज्यकी निवृत्ति हो जायगी और फिर ठीक उसी जगह सत्य वस्तु, जो पहलेसे ही है, निरन्तर है; प्रकाशित हो जायगी। पूरी चेष्टा करके मनको इस जगत्‌से निकालकर यहींपर चलती हुई लीलामें परम रमणीयरूपमें, वृक्ष, बासन, साड़ी, पगड़ी आदिमें जोड़ दें; फिर निश्चय अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। अभी मन दिन-रात चिन्तन करता है कलकत्ता, बम्बई, पेटी, तिजोरी, कागज, पेंसिल, गली, सड़क, यहाँके बासन, यहाँके कपड़ोंका। इनके बदले उसे वृन्दावनीय पदार्थोंमें जोड़िये। यही करना है, बस, इतना ही करना है। फिर भगवान्‌की कृपाका समुद्र उथलकर आपके सामने असली वस्तुको प्रकट कर देगा।

६६—भगवान्‌की समस्त लीलाओंका आधार (मूल) एकमात्र श्रीराधिकाजी ही हैं। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। स्वरूपा शक्ति हैं। ये ही अनन्तरूप धारण करके श्रीकृष्णलीलाका

सामञ्जस्य करती हैं। श्रीराधाजीकी प्रेम-लीला इतनी ऊँची है कि वस्तुतः वे जिसे कृपा करके कुछ दिखाना चाहें वही देख सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे आज भी हैं और भावनाके अनुसार जैसी भी इच्छा कीजियेगा, वैसी ही उसी क्षण उस इच्छाकी पूर्ति कर सकती हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही राधा हैं। इनमें तनिक भी, रत्तीभर भी किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, व्रजमें हुई थी।

तीन महात्मा घूम रहे थे। घूमते-घूमते उनमें जो कुछ अधिक आयुके थे, वे तो थक गये। उन्होंने कहा—'भैया! अब तुमलोग जाओ; मैं तो अब यहीं आराम करूँगा।' तीनोंने दिनभर कुछ भी नहीं खाया था। अतः एक तो ठहर गये, दो आगे बढ़े। बरसाना निकट आ गया। दोनों बड़े श्रद्धालु थे। दोनोंने आपसमें सलाह करके यह निश्चित किया कि आज चलो, श्रीजीके अतिथि बनें। बात विनोदमें हुई थी; अतः उन लोगोंने फिर इसपर विचार नहीं किया। सोचा—अब रात हो गयी है, कहाँ माँगने जायँ; यहीं रातमें मन्दिरमें जो कुछ प्रसाद मिल जायगा, उसे खाकर पानी पी लेंगे। उस दिन मन्दिरमें उत्सव था। उत्सव देखनेमें लग गये। उत्सव समाप्त हुआ, लोग चले गये। करीब ग्यारह बजे मन्दिरके पुजारीजी जोर-जोरसे पुकारकर कहने लगे—'अरे, यहाँ दो आदमी श्रीजीके अतिथि कौन हैं?' इन लोगोंने आवाज सुनी, वह विनोदकी बात याद आ गयी। फिर प्रेममें निमग्न हो गये। दोनोंने कह दिया—'कोई होगा।' पश्चात् पुजारीजी इन दोनोंको ले गये और प्रसादमें जो-जो बढ़िया-से-बढ़िया चीजें थीं, भरपेट खूब प्रेमसे दोनोंको खिलायीं। इन लोगोंने प्रेममें भरकर खूब आनन्दसे प्रसाद पाया तथा पूर्ण तृप्त होकर फिर एक छतरीमें जाकर सो रहे, जो वह वहाँसे दूर, कुछ ही दूर हटकर थी। सोनेके बाद

दोनोंको एक ही समय एक ही स्वप्न आया। दोनोंने देखा एक अत्यन्त सुन्दर बारह वर्षकी बालिका आयी है और पूछ रही है—'क्यों, तुमलोगोंने भरपेट भोजन तो किया? हमारे अतिथि हो न?' उन लोगोंने स्वप्नमें ही कहा—'खूब छककर खाया।' बालिका बोली—'पर आज प्रसादमें खूब बढ़िया पान था, पुजारी वह देना भूल गया। वही पान लेकर मैं आयी हूँ।' यह कहकर उसने दोनोंके पास दो-दो खिल्लियाँ पानकी रख दीं। उसी समय दोनोंकी नींद खुल गयी। उठकर देखा तो सिरहाने दो-दो बीड़े पानके रखे हुए हैं। दोनों रोने लगे, प्रेमसे व्याकुल हो गये। पानका बीड़ा मुँहमें रखकर प्रेममें अधीर हो गये। दोनोंने अपना स्वप्न एक दूसरेको सुनाया—एक ही समयमें दोनोंको एक ही स्वप्न हुआ था।

यह सच्ची घटना है और जिनको ऐसा अनुभव हुआ है, वे शायद जीवित हैं। बात इतनी ही है कि श्रीराधारानी, श्रीकृष्ण केवल विश्वास देखते हैं, फिर जैसे भरपेट भोजन देकर उनको अतिथिके रूपमें स्वीकार कर लिया, वैसे ही सच्चे विश्वासके साथ उनका दर्शन चाहनेवाले, उनकी लीलाको देखकर कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवालेको वे अतिथि बनाकर उसका वैसा ही अतिथिसत्कार कर सकते हैं। उनके लिये सभी समान हैं, किसीके प्रति भेदभाव नहीं है। अतः आप यदि अनन्य मनसे आतुर होकर श्रीकृष्णसे, श्रीराधारानीसे चाहें कि बस, आपका निरन्तर चिन्तन हो, निरन्तर आपकी लीला सुननेको मिले, तो सच मानिये, देरका काम नहीं है। अवश्य इस प्रार्थनाको वे सुनेंगे। पर प्रार्थना सच्ची हो तब। जबतक आपकी प्रार्थना सच्ची न हो, तबतक झूठे ही मनसे बार-बार कहते रहिये। झूठी प्रार्थनाको भी वे कृपा करके समयपर सच्ची बना देते हैं।

आपकी यह चाह बड़ी उत्तम है कि निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण बना रहे और लीला सुननेको मिले। यह बहुत ही उत्तम चाह है। बस, चाहते चले जाइये, झूठी-सच्ची जैसी भी चाह हो—चाहते ही चले जाइये। चाह बनी रहेगी तो वह कभी सच्ची भी हो जायगी और किसी-न-किसी दिन पूर्ण कृपाका प्रकाश होगा ही।

६७—श्रीगोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हिय मैं ठौर।
नंदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

इस पदके आधारपर ऐसी भावना कीजिये कि सचमुच सामने उद्धव-लीला हो रही है तथा एक प्रेम-रसनिमग्ना व्रज-सुन्दरी कह रही है—'उद्धव! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदयमें जगह ही नहीं—दूसरी वस्तुको, दूसरी चर्चाको कहाँ रखूँ? हृदयको तुम देख लो; इसमें तो केवल श्यामसुन्दर-ही-श्यामसुन्दर भरे हैं। मैं चाहूँ, तो भी क्या करूँ, जब कि जगह ही नहीं बच रही है। उद्धव! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दरको छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसीको कैसे बैठाऊँ? मेरे श्यामसुन्दरने मेरे हृदयको चारों ओरसे घेरकर छा लिया है, उनके रहते हृदयमें दूसरेको कैसे बैठाऊँ? नहीं-नहीं, उद्धव! असम्भव है। प्राण भले ही चले जायँ, पर अब इस

हृदयमें दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता, यहाँ तो बस, नित्य-निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे।

'उद्धव! तुम्हें विश्वास नहीं होगा—वह मूर्ति, प्यारे श्यामसुन्दरकी मूर्ति कभी एक क्षणके लिये भी हृदयसे नहीं हटती। मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरकी छबि मेरे हृदयमें रहती है। मैं जिस क्षण अपनी दृष्टिको बाहर किसी और पदार्थकी ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दरकी छबि है, हृदयमें भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं। दिनभर जबतक जागती रहती हूँ, तबतक श्यामसुन्दर, एकमात्र श्यामसुन्दर ही नजरोंके सामने रहते हैं। रातमें जिस क्षण सोनेकी चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरका तिरछी चितवनयुक्त मुखारविन्द सामने रहता है। स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ—श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े हैं, मेरी ओर तिरछी चितवनसे देख रहे हैं। मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं; मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं। फिर पकड़नेके लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पानेपर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस, हँसते हुए आकर मुझे हृदयसे लगा लेते हैं। आँखें खुल जाती हैं—मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, स्वप्न था; पर फिर सामने देखती हूँ—नहीं, नहीं, वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं। इस प्रकार उद्धव! एक क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरकी वह घुँघराली अलकोंवाली छबि मेरे मनसे नहीं हटती। उद्धव! एक क्षणके लिये भी प्यारे श्यामसुन्दरके सिवा और कोई वस्तु नजर ही नहीं आती। नाराज मत होना—तुम श्यामसुन्दरके प्यारे सखा हो, तुम्हारी बात मैं नहीं सुन पा रही हूँ, पर न सुननेके लिये लाचार हो गयी हूँ। उद्धव! कोई उपाय नहीं रह गया है। उद्धव! न जाने

श्यामसुन्दरने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मनसे ही इस योगकी बात सुना रहे हो; पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो, हम गाँवकी ग्वारिनें योग लेकर क्या करेंगी। सचमुच तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो; अरे, तुम जिस श्यामसुन्दरकी बात सुना रहे हो, उसके हृदयकी बात ही तुम नहीं जानते। तुम कहते हो—'श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसारके एकमात्र स्वामी हैं।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक अपने-आपको व्रजमें आकर भूल गया। तुम्हें एक दिनकी बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे। विश्वास करो, उद्धव! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं। मेरा सब कुछ उनका है और उनका सब कुछ मेरा है। तुम्हें सुनाती हूँ—

'मथुरा जानेके कुछ ही दिनों पहले मैं उनसे रूठ गयी थी। श्यामसुन्दरके सखा! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं। आँखोंके सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुँह फेरकर बैठ गयी। वे आये, बड़े प्रेमसे मेरे हाथोंको पकड़कर बोले—'प्रियतमे! अपराध क्षमा करना, मैंदेरसेआया; तुम मेरी प्रतीक्षामें व्याकुल थी; पर क्या करूँ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था कि मैं तुमसे दूर हूँ; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सब कुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था। विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी! मेरे हृदयमें तुम्हारे सिवा और किसीके लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिये·····'उद्धव! अब बोला जाता नहीं, कण्ठ भर आया; अब आगे तुम्हें उस दिनकी बात नहीं सुना सकूँगी। मेरे प्यारे श्यामसुन्दरकी उस दिनकी झाँकी, उस दिनकी लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी, चाहनेपर भी तुम्हें नहीं सुना सकूँगी। नाराज मत होना, सुननेपर भी तुम

समझ नहीं सकोगे। उद्धव ! उद्धव ! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये—मेरे प्रियतमके हृदयकी बात, हृदयका रहस्य तुम नहीं जान सके। तुम्हारे सर्वेश्वरके हृदयमें क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते। उद्धव ! उनका हृदय ओह ! क्या बताऊँ; वह तो मेरे पास है। यह देखो, देख सको तो देखो; तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदयमें क्या कर रहा है; पर तुम अभी नहीं देख सकोगे। जाने दो, उद्धव ! हम गँवारी ग्वालिनोंको मरने दो, श्यामसुन्दरका नाम ले-लेकर मर जाने दो। उद्धव ! उद्धव ! तुम भूलते हो—लोक-लाजको, कुलकानको, यश-अपयशको तो आजसे बहुत पहले मैं जला चुकी हूँ; सबको भस्म कर चुकी हूँ। वे सब-के-सब न जाने कभीके जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्र धारामें, श्यामसुन्दरके प्रेमकी प्रबल रसधारामें। उनकी गन्ध भी नहीं बच रही है। उद्धव ! यदि तुम देख सकते तो देख पाते कि मेरे हृदयमें क्या भरा है, प्यारे सखा ! श्यामसुन्दरके सखाके नाते तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा ! क्या करूँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही हैं। देखो, मेरे शरीरके सूखे ढाँचेके भीतर दृष्टि ले जाओ—वहाँ देखो, देखो, केवल श्यामसुन्दरका प्रेमसमुद्र लहरा रहा है, तरङ्ग-पर-तरङ्ग उठ रही है। उनमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम-अगाध प्रेम-समुद्रके अतल-तलमें डूबे हुए हैं। वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर ! वह देखो, मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर···ओह, तुम नहीं देख पाते। क्या करूँ, जाने दो।

'उद्धव ! उस प्रेम-समुद्रमें डूबे हुएको, बिलकुल तलमें जाकर विलीन हो जानेवालेको तुम बाहर लाना चाहते हो ? प्रेमके समुद्रको तुम घड़ेमें अँटाकर रखना चाहते हो ? सोचो, कितनी भूल कर रहे हो,

देखो, उद्धव ! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ेमें नहीं समा सकता ! अरे, मैं पगली हो गयी हूँ—क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ। मैं भूल गयी, उद्धव ! बस, इतना ही कहना है, व्यर्थकी चर्चा हमें मत सुनाओ। हम ग्वालिनें योगकी बात, ज्ञानकी बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं, उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा। तुम्हारा यह ज्ञान हमें भुला नहीं सकेगा। मैं चाहूँ तो भी नहीं भूल सकती।'

'सुनो, प्यारे सखा ! बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ। आजसे बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होंने मेरे इस शरीररूप घड़ेको अपने प्रेमसे भर दिया। भरकर फिर क्या किया, बताऊँ ? सुनो, चारों ओरसे स्वयं ही पहरेपर बैठ गये। कानोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, आँखोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, नाकके छिद्रोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, मुँहको बंद करके वहाँ भी वे बैठ गये। और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें—सब जगह पहरा देने लगे। उद्धव ! प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीरके भीतर देखो, तब पता चलेगा—देखो, श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं। यह शरीरका घड़ा भरा है प्रेमसे, और सर्वथा सब ओरसे बंद है। इसे तुम क्षारसमुद्रमें, योगकी खारी चर्चामें डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी सम्भव है ? उद्धव ! इस प्रयासको छोड़ दो। यह प्रेमका घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें कभी डूबनेका नहीं है। यह तो डूबेगा श्यामसुन्दरके मधुर सुधामय प्रेमसमुद्रमें। स्वयं श्यामसुन्दर आयेंगे, स्वयं इसका मुँह खोलकर इसे अपनेमें मिलाकर एक कर लेंगे। प्यारे सखा ! उपाय नहीं है। लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दरके हाथोंसे भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें डूबेगा ही

नहीं। ओह ! मैं सचमुच पागल हो गयी हूँ, क्या-क्या बक रही हूँ। क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होशमें नहीं हूँ, यह पगलीका प्रलाप है। मेरे जले हुए—झुलसे हुए हृदयमें ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचारकर तुमसे बात करूँ। कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ।'

'प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँसे कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षणके लिये भी कहीं बाहर नहीं गये। वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यहीं रहेंगे। मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे। अनन्त कालतक रहेंगे। अभी-अभी कलकी बात है। तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकालकी बात है। मेरे प्रियतम प्राणनाथ वनसे गाय चराकर लौट रहे थे। मैं उस क्षण घरके भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी कि श्यामसुन्दर तो पास ही हैं। इतनेमें वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा, भ्रम हो गया है, श्याम-सुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी उस मुरलीकी मधुर ध्वनिको। मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु मेरा नाम ले-लेकर मुरलीमें सुर भर रहे थे। बाहर आयी, देखा—आह ! कैसी अनुपम छबि थी। नील कमलके समान सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघके समान समस्त शरीर संध्याकालीन सूर्यकी रश्मियोंमें झलमल-झलमल कर रहा था, मुखपर धूलिके कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेदकी कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघराली अलकें बार-बार मुखपर आ जाती थीं और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकोंको बार-बार बायें हाथसे हटाते रहते थे। आह, उन आँखोंकी शोभा क्या बताऊँ ! तुरंतका खिला कमल उस शोभाके सामने फीका पड़ जाता था। मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन डालकर मुझे देख लेते थे। मैं देख रही थी और वे मस्तानी चालसे,

अत्यन्त मधुर चालसे चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे। उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी, मुझपर उनकी मनोहर मुसकान जादूका काम कर रही थी। इतनेमें ही वे बिलकुल मेरे पाससे होकर निकले। मित्र ! क्या बताऊँ ? रोक न सकी मैं अपनेको; उनमें मिल जानेके लिये, अपने-आपको उनमें मिला देनेके लिये दौड़ पड़ी। वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोट-पोट-से होने लगे। अपने सखा सुबलको उन्होंने कुछ संकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े, मैं भी आगे बढ़ी। मैं और वे दोनों आमने-सामने थे। मैं झमूरेकी तरह नाच रही थी। वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती; वे हँसते, मैं हँसती। इस प्रकार न जाने कितनी देर हमलोग खेलते रहे। पर मैं अब अपनेको सम्हाल न सकी। मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरने ही जा रही थी, बस गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़ आये और उन्होंने अपनी सुकुमार भुजाओंका सहारा देकर मुझे बैठा दिया।' पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे संकेत करके उन्होंने कहा—'री ! नेक इस बावलीको सम्हाल।' उद्धव ! .....अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस उस आनन्दको व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं। आह, उद्धव ! मेरे प्यारे सखाके....मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ।

'नहीं, नहीं मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं, कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी। सचमुच उद्धव ! मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कि कल ही वह घटना घटी थी, इसलिये सुनाती गयी। पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! मोहनके सखा ! वह घटना रोज ठीक शाम होते ही आँखोंके सामने नाचने लगती है। ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ, वैसे ही हो रहा है। अब कुछ होश हुआ

है, सोचती हूँ—प्राणनाथ मथुरामें हैं, मैं तो पगली हो रही हूँ, इसीलिये उन्हें पास अनुभव करती हूँ। जो हो, मित्र ! वह मुखसरोज, वह श्याम मेघ-सा शरीर, वे कमलके समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नहीं जाती। निरन्तर वे ही, वे ही आँखोंके सामने नाचते रहते हैं। प्यारे मित्र ! श्यामसुन्दरके सखा ! मेरे प्राणनाथका हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निष्ठुरता नामको भी नहीं है। उन्हें मेरी दशाका पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं। इसीलिये प्यारे उद्धव ! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ—इतनी ही कृपा, बस, इतनी कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दरसे, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वरसे कह देना—आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुखसरोजको, उसी श्यामसुन्दर-शरीरको ही, कमलदल-से नेत्रोंको, उसी ललित मस्तानी चालको, उसी मन्द मुसकानको आँखें खोज रही हैं। आँखोंको बस, इतनी ही प्यास है। प्यारे उद्धव ! मेरी ओरसे कह देना—बस, एक बारके लिये, एक ही बारके लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जायँ, खूब सुखसे रहें। एक बार बस, एक बार दासीके नयनोंकी प्यास बुझाकर चले जायँ। उद्धव ! इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ—तुम मेरे प्राणनाथको, मेरे हृदयेश्वरको मेरे हृदयका यह संदेश सुना देना।'

६८—मन लगाना कोई बड़ी बात नहीं है। कई बार कहा जा चुका है कि यदि आप सचमुच व्रजलीलामें मन लगाना चाहेंगे तो श्रीकृष्णकी कृपासे यह इतना आसान है कि बस, चकित रह जाइयेगा। सोचिये—यमुना है, यमुनाका जल हवाके झोंकोंसे हिल रहा है, इसका बीस सेकंड चिन्तन कीजिये। फिर देखिये—सुन्दर घाट है; नीलम, पन्ने, माणिक्यसे जड़ा हुआ घाट संध्याकालीन सूर्यकी किरणोंमें

चम-चम कर रहा है, इसमें भी बीस सेकंड लगाइये। फिर देखिये—घाटकी चार सीढ़ियाँ हैं, एक, दो, तीन, चार ..... इस प्रकार सीढ़ियोंको गिननेमें बीस सेकंड। फिर देखिये—घाटपर व्रजसुन्दरियाँ घड़े भर रही हैं। घड़ोंमें पानी भर रहा है, यमुनाके जलसे घड़े भर रहे हैं—इसके चिन्तनमें बीस सेकंड। फिर देखिये—व्रजसुन्दरियाँ घड़ोंको सिरपर उठा-उठाकर रख रही हैं, इस उठानेकी क्रियाको बीस सेकंडतक देखिये। फिर सोचिये, दूरपर श्रीकृष्ण खड़े हैं और गोपियाँ आपसमें उनकी ओर इशारा कर रही हैं। इस इशारेकी क्रियामें बीस सेकंड। इस प्रकार अनन्त चीजें आपको मिलेंगी, जिनमें मनको निरन्तर फँसाये रख सकते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कभी कुछ। फिर होगा यह कि आपका मन ही वृन्दावन बन जायगा। वहाँ दिन-रात मधुरतम लीला चलती रहेगी। यहाँ भले ही प्रलय होता रहे, पर आपका मन मधुर वृन्दावनमें सैर करता रहेगा; किंतु चाह रखकर, लगनसे तत्परतापूर्वक करनेसे यह होगा। फिर कुछ भी हो, आपका शरीर और मन सब वृन्दावनमें हैं, आपको क्या फिक्र है ? भावना दृढ़ होनेपर बड़ी सुन्दर अनुभूति होगी। दाहिने दृष्टि डालियेगा, ऐं, यहाँ तो मेंहदीकी कतार है। बायें देखियेगा, ऐं, यहाँ तो जूही-बेला खिल रहे हैं। पीछे देखियेगा—यहाँ तो यमुना लहरा रही हैं, और सामने—यहाँ तो श्रीराधाजीका महल है। यही आकाश आपको वृन्दावनका आकाश दीखेगा।

६९—जैसे संध्या होती है, बस, वैसे ही श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलनके लिये अपने प्राणोंकी व्याकुलता लेकर अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ करती हैं, पर उनका यह शृङ्गार कभी भी अपने सुखके लिये नहीं होता। उनके मनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं होती।

गोपीप्रेमका यही विशेषत्व है, वहाँ अपने सुखकी कामनाकी गन्ध भी नहीं है। उन प्रेमवती व्रज-सुन्दरियोंके जीवनकी समस्त चेष्टाएँ एकमात्र इसी उद्देश्यसे स्वभावतः होती हैं कि हमारे प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचे। उन्हें चेष्टा नहीं करनी पड़ती, यह उनका स्वभाव बना हुआ है। अतः उनका अपने शरीरको सजाना भी अपने लिये बिलकुल नहीं होता। अस्तु, संध्या होते ही व्रजसुन्दरियाँ अपनेको सजाना आरम्भ करती हैं; पर यह सजाना जहाँ आरम्भ हुआ कि उसी क्षण श्रीकृष्णकी गाढ़ स्फूर्ति होकर वे इस बातको भूल जाती हैं कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ। उन्हें ऐसा अनुभव होता है—यह सामने, बिलकुल मेरे सामने मेरे प्रियतम खड़े हैं, मुझसे थोड़ी ही दूरपर खड़े हैं। फिर थोड़ा बाह्यज्ञान होता है, सजाना आरम्भ करती हैं, पर सजाने जाकर अपने-आपको विचित्र बना लेती हैं। ओढ़नीको पहन लेती हैं, साड़ीको ओढ़ लेती हैं, आँखोंमें लगानेका काजल तो चरणोंमें लगा लेती हैं और चरणोंमें लगानेका महावर आँखोंमें लगा लेती हैं। कानकी बालीको नाकमें पहन लेती हैं और नाकके बुलाकको कानमें पहन लेती हैं। गलेका हार कमरमें एवं कमरकी करधनीको गलेमें धारण कर लेती हैं। इस प्रकार उनका वेष विचित्र बन जाता है—किसी दिन कैसा, किसी दिन कैसा; प्रतिदिन ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ी हो ही जाती है। परंतु श्रीकृष्ण उनके इस भेषको देखकर अप्रसन्न होनेकी बात तो कल्पनासे भी दूर है, प्रेमानन्द-रस-सागरमें डूब जाते हैं। उनको देखकर श्रीकृष्णकी आँखोंसे विमल प्रेमकी अश्रुधारा बहने लगती है। वे अपने हाथोंसे उन गोपसुन्दरियोंके वस्त्र-आभूषण ठीक करते हैं, उन्हें यथास्थान पहना देते हैं। यह है प्रेमकी महिमा—इसमें बाहरके साज-शृङ्गारके लिये कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण तो हृदयके प्रेमका

रसास्वादन करते हैं, बाहरका रूप उनकी आस्वाद्य वस्तु नहीं है। उनकी आस्वाद्य वस्तु है—प्राणोंकी व्याकुलतासे भरा निर्मल प्रेम।

साधक साधना प्रारम्भ करता है, तब उसके मनमें यही बात—एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मेरे प्रभु जिस बातसे प्रसन्न हों, वही करना है। वह पहले प्रत्येक चेष्टा भलीभाँति विचार-विचारकर करता है कि वे अधिक-से-अधिक किस बातसे प्रसन्न होते हैं। फिर यह उसका स्वभाव बनता चला जाता है। इस बातके लिये ही पहले उसकी प्रार्थना होती है—'मेरे नाथ! मैं तुम्हारे हाथोंका यन्त्र बन जाऊँ।' यह प्रारम्भमें होता है—आगे तो प्रेमीकी ऐसी दशा होती है कि उसे केवल वही जानता है।

७०—यह सिद्धान्ततः ठीक है कि महापुरुषोंको साक्षात् भगवान् मानकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेसे भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति बड़ी शीघ्रतासे होती है। पर किसी मनुष्य-विशेषके प्रति प्रथम तो भगवद्बुद्धि होना कठिन है; हुई भी तो वह आगे चलकर हट सकती है और इस प्रकार अपराध बननेसे उसकी उन्नति रुक सकती है; और कहीं वह आदमी, जिसमें भगवद्बुद्धि की गयी, भगवत्प्राप्त न हो (अधिकांशमें ऐसा ही होता है, भगवत्प्राप्त महात्मा तो बिरले ही होते हैं), साधकमात्र है तो उससे कोई खास लाभ नहीं होता। और यदि दम्भी हो, ऊपरसे बना-बना हुआ प्रेमी हो, तब तो निश्चय ही साधकके लिये पश्चात्ताप होनेके लिये अवकाश है। इसलिये सर्वोत्तम, सबसे श्रेष्ठ निर्भय मार्ग यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जीवनको समर्पित करके उनका पवित्र मधुर स्मरण, उनका प्रेममय भजन तथा सत्सङ्गमें रहकर जीवन बिताते हुए समस्त विश्वको ही अपने इष्टका रूप समझकर यथायोग्य सबकी सेवा की जाय। यही आत्मसमर्पणकी

तैयारी है। फिर पूर्ण आत्मसमर्पण तो भगवान् कराते हैं।

एक और आवश्यक प्रार्थना यह है कि जीवनमें किसीको तत्त्व-निर्णयके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा करनेवालोंका रास्ता प्रायः बंद-सा हो जाता है; क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन, उनका प्रेम और उनकी परम पवित्र लीला मन-वाणीके विषय नहीं हैं। जो भी वाणीसे कहा जाता है, शास्त्रोंमें सुननेको मिलता है, वह तो शाखा-चन्द्रन्यायकी भाँति संकेत है। भक्तको चाहिये कि वह सिद्धान्त-निर्णयके फेरमें बिलकुल न पड़कर सरल श्रद्धासे आत्मसमर्पणकी तैयारी—श्रीकृष्ण, श्रीराधा-रानीके चरणोंमें न्योछावर हो जानेकी तैयारी करे। वह केवल तैयारी ही कर सकता है; असली आत्मसमर्पण तो होगा तब, जब श्रीकृष्ण स्वयं इस आत्मसमर्पणको स्वीकार करेंगे। उसके पहले प्राणोंकी समस्त व्याकुलता लेकर तैयारी करनी होगी। कोई ज्ञानी कहे कि ब्रह्म-प्राप्ति ही सबसे ऊँची स्थिति है तो उसमें भगवद्भाव करके, प्रभु हमारी परीक्षा ले रहे हैं—यों समझकर उसे प्रणाम करके उपरत हो जाना चाहिये, भूलकर भी कभी वाद-विवाद या बहस नहीं करनी चाहिये। करने चाहिये केवल दो काम—जीभसे अखण्ड नामोच्चारण एवं मनसे अखण्ड श्रीकृष्ण-लीलाओंका चिन्तन! इसमें जो सहायक हों, उन्हें जोड़ते चले जाना चाहिये। बाधक हों, उन्हें तुरंत फेंकते जाना चाहिये।

७१—एक ही भगवान् अपनेको दो रूपोंमें बाँटकर लीलाका आस्वादन करते हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही राधिकाजी हैं। उनमें सर्वथा सब ओरसे नित्य एकत्व ही है। ऐसा होते हुए भी अनादि कालसे लीलाका आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाके रूपमें वे नित्य सच्चिदानन्दमय, रसमय प्रेमका घनीभूतविग्रह

धारण किये हुए हैं। श्रीगोपियाँ श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा हैं, अर्थात् स्वयं श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णको लीला-रसका आस्वादन करानेके लिये अनन्त गोपीरूप धारण किये हुए हैं तथा अनादि कालसे वह सच्चिदानन्दमयी लीला—श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनकी लीला चल रही है, अनन्त कालतक चलती रहेगी। साधनाके द्वारा मनुष्य पहले इन लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन करता है, फिर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा होनेपर ही उस लीलामें स्वयं भी सम्मिलित हो जाता है। इस दुर्लभ लीलाका दर्शन किसी-किसी ज्ञानयोगीको भी ब्रह्मप्राप्तिके बाद ही होता है। पर प्रेमपंथी भक्तके लिये भगवान्‌की कृपासे सीधा रास्ता निकल जाता है और वह बिलकुल सीधे एक विलक्षण ढंगसे इस लीलाका दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं।

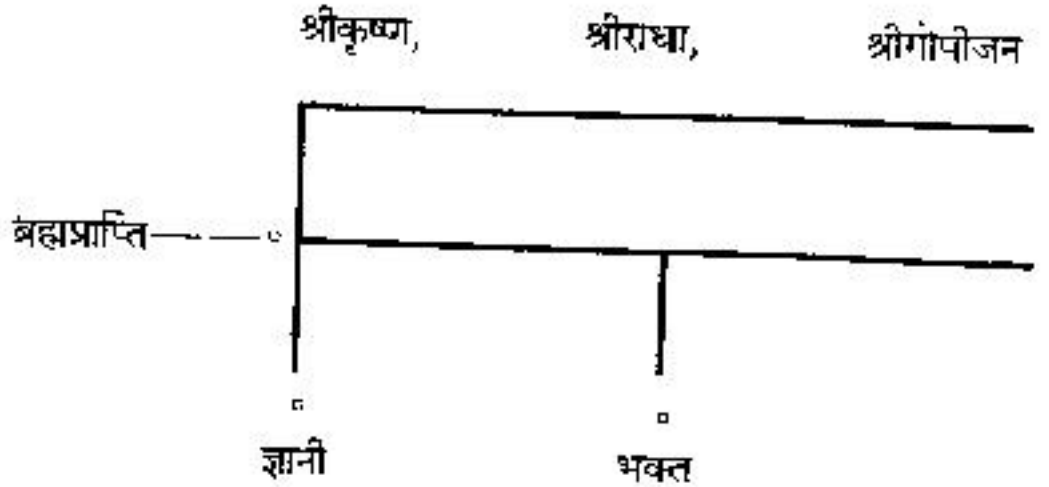

७२—श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, हृदय हैं अर्थात् श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा दोनों सर्वथा सब प्रकारसे एक ही हैं। लीलाके लिये दो रूपोंमें अनादि कालसे बने हुए हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे।

श्रीकृष्णका स्वरूप है सत्-चित्-आनन्द। सत्‌में संधिनीशक्ति रहती है; चित्‌में चितिशक्ति (ज्ञानशक्ति) रहती है तथा आनन्द-अंशमें